9562

जैन भारती

वर्ष 51 • अंक 3 • मार्च, 2003

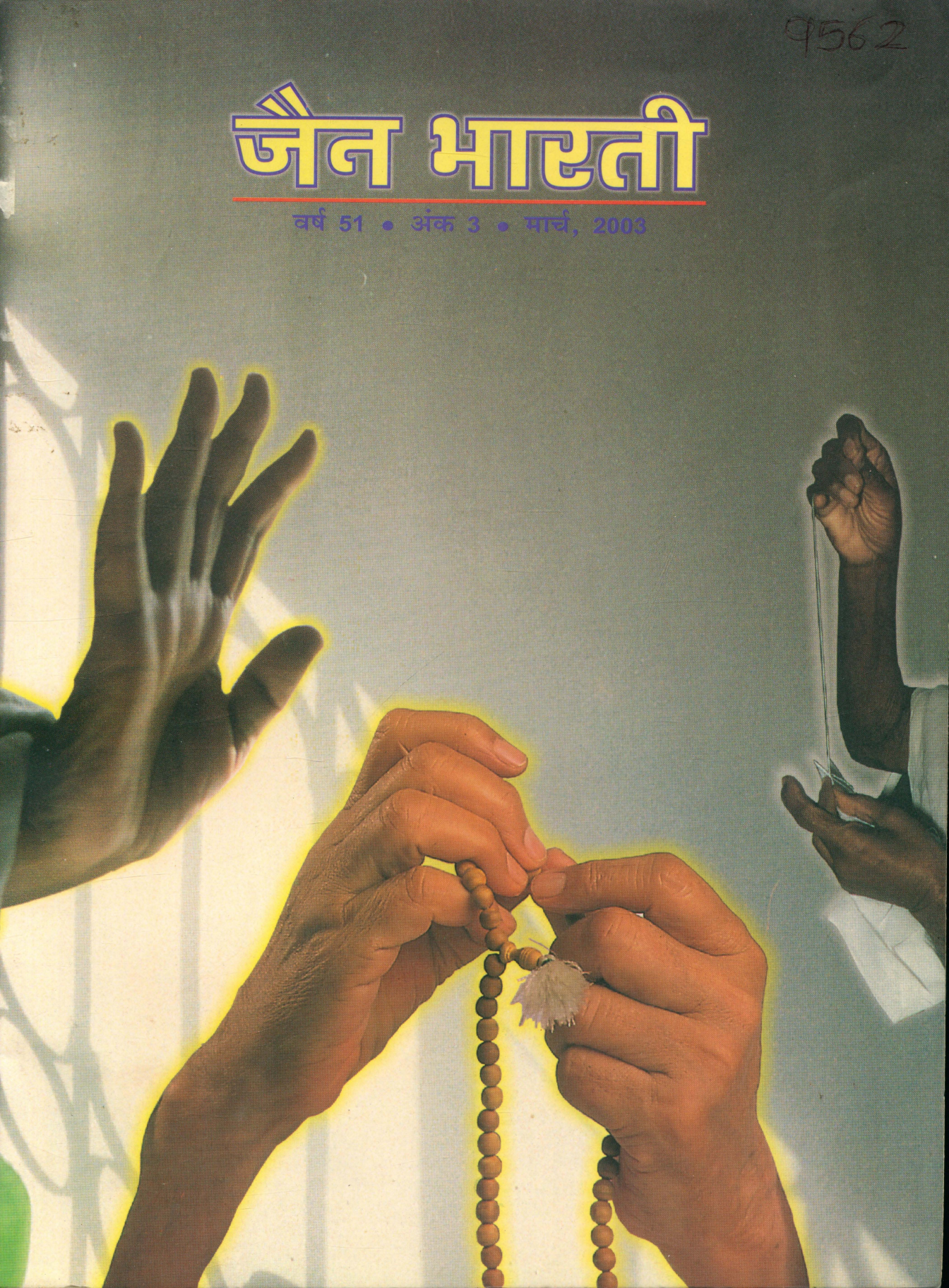

हार्दिक शुभकामनाओं सहित :

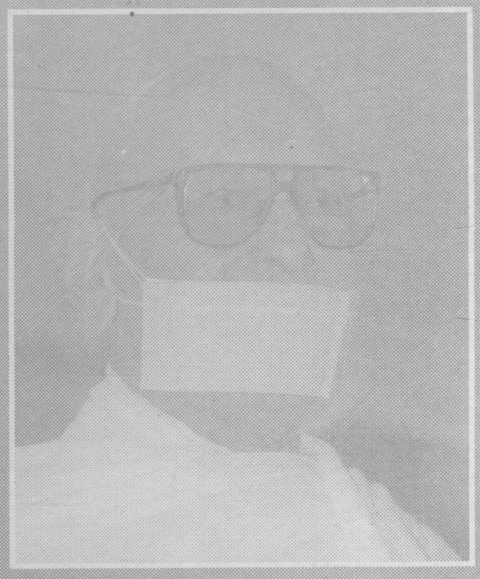

हेमराज थामसुख

विनीत टेक्सफैब लिमिटेड

101, मामुलपेट, बंगलोर 560053

फोन : 2872355, 2871754

शुभू पटवा
मानद संपादक
•
बच्छराज दूगड़
मानद सह-संपादक

जैन भारती

वर्ष 51 • मार्च, 2003 • अंक 3

विमर्श

9
आचार्यश्री महाप्रज्ञ
सामंजस्य का आधार—अध्यात्म-चेतना

16
डॉ. एस. राधाकृष्णन्
भारत : एक परंपरा, एक भावना, एक प्रकाश

22
राजकिशोर
विचारों का व्यावसायिक उत्पादन

•

आवरण
निषाद/खेराज

अनुभूति

27
मुनि धनंजयकुमार
व्यक्ति और समाज

30
मुनि जयंतकुमार
तैजस शक्ति में छिपा सौंदर्य

34
कहानी
शरत् चंद्र चट्टोपाध्याय
अंधकार में आलोक

46
कविता
हरीश भादानी की कविताएं

प्रसंग

5
शुभू पटवा
जीवन के रंग

शीलन

49
मुनि तत्त्वरुचि 'तरुण'
मन-भावों की एक परीक्षण विधि

51
साध्वी जयमाला
नारी का दायित्व

54
बालकथा
डॉ. मदन सैनी
दो मुट्ठी पैसे

संपादकीय पता : संपादक, जैन भारती, भीनासर 334403, बीकानेर • फोन : 2270305, 2202505
प्रकाशकीय कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401
प्रधान कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001
सदस्यता शुल्क : वार्षिक 200/- रुपये • त्रैवार्षिक 500/- रुपये • दसवर्षीय 1500/- रुपये

शुद्ध सत्य की दृष्टि से शरीर भी एक परिग्रह ही है। यह सच कहा है कि भोग की इच्छा के कारण आत्मा के लिए शरीरों की सृष्टि होती है। जब यह इच्छा मिट जाती है, तब फिर शरीर की आवश्यकता नहीं रह जाती और मनुष्य जन्म-मरण के कुचक्र से मुक्त हो जाता है। आत्मा सर्वव्यापक है, उसे पिंजड़े जैसे शरीर में बंद रहने या उस पिंजड़े के खातिर बुराई करने या किसी के प्राण लेने की भी चिंता क्यों करनी चाहिए? इस प्रकार हम संपूर्ण त्याग के आदर्श तक पहुंच जाते हैं और जब तक शरीर रहता है, तब तक सेवा के काम में उसका उपयोग करना सीखते हैं: यहां तक कि सेवा, न कि रोटी, हमारे जीवन का आधार बन जाती है। हम केवल सेवा के लिए खाते, पीते, सोते और जागते हैं। ऐसी मनोवृत्ति से समय पाकर हमें सच्चा सुख और आनंददायक दृष्टि प्राप्त होती है। हम सबको इस दृष्टिकोण से आत्म-निरीक्षण करना चाहिए।

—गांधीजी

जो दूसरे की विशेषता को अपनी विशेषता की ओट में छिपाने का प्रयत्न करता है और जो गुण सुनकर अप्रसन्न और निंदा सुनकर प्रसन्न होता है, वह व्यक्ति-विशेष को महत्त्व देता है, गुण को नहीं। जो गुण की पूजा करना नहीं जानता, वह बहुत पढ़कर भी शायद कुछ भी नहीं जानता। इसलिए उसे अविनीत ही नहीं, अज्ञानी भी कहा जा सकता है। जो बड़ों का सम्मान नहीं करता और दूसरों को उकसाकर विद्रोहपूर्ण भावना फैलाने में ही रस लेता है, उसे क्या पता कि साधना में क्या रस होता है? वह अविनीत ही नहीं, नीरस भी है। उसने साधना का स्वाद चखा ही नहीं।

'भिक्षु विचार दर्शन' से

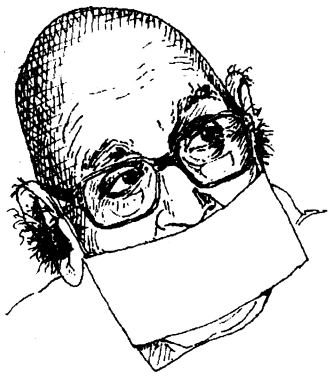

प्रश्न हो सकता है—आत्मा से युद्ध करो। तो क्या इसका मतलब यह है कि आत्मा को खत्म कर डालो? आत्मा के गुण और क्रिया आखिर आत्मा ही तो हैं। चेतन के गुण और क्रिया चेतन, जड़ के गुण और क्रिया जड़। उसी प्रकार आत्मा के गुण और क्रिया आत्मा ही हैं। अतः अपनी दुष्प्रवृत्तियों के साथ लड़ना अपनी आत्मा के साथ ही लड़ना है; जिनका भी यही अर्थ है—'जयति आत्मन इति जिनः' या 'जयति रागद्वेष इति जिनः'—जो अपनी आत्मा को जीते या राग-द्वेष को जीते, उनको जो आराध्य मानते हैं, अनुसरण करते हैं, वे भी जैन ही हैं।

पर उनका अनुसरण करने का मतलब यह नहीं है कि उनकी समाधि पर पुष्पहार चढ़ा दो या वहां बैठकर उनके भजन-स्तवन कर लो। इतने मात्र से उनका अनुसरण मान लेना गलत है। ये सब बाह्य लोक-पद्धतियां हैं। तत्त्वतः उनके पथ को अपना पथ बनाना ही उनका अनुसरण करना है। जैन दर्शन बताता है कि कोई मनुष्य यदि जैन बनना चाहता है तो उसके लिए यह आवश्यक है कि वह विजेता के पथ पर अपने कदम बढ़ाए।

—आचार्यश्री तुलसी

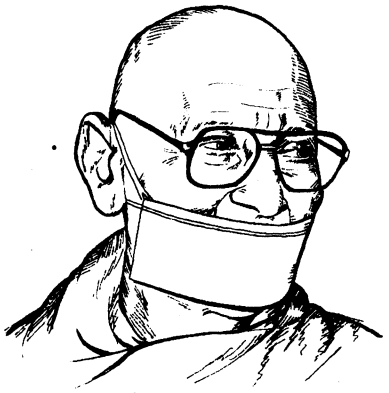

जैन दर्शन पुरुषार्थवादी दर्शन है। यह न ईश्वर के हाथ का खिलौना है और न ही नियति के हाथ की कठपुतली है। अनेक लोग कहते हैं—जैसा भाग्य में लिखा है, वैसा ही होगा। जैन दर्शन इसको मान्यता नहीं देता। मनुष्य जब ईश्वर के हाथ का खिलौना नहीं है तो फिर कर्म के हाथ का खिलौना कैसे बनेगा? कर्म की भी एक सीमा है। कर्म को असीम महत्त्व देना और यह मानकर बैठ जाना कि सब-कुछ कर्म से होता है—यह भी गलत है। पुरुषार्थ ही कर्म का घटक है। पुरुषार्थ कर्म को बनाता है। इस दृष्टि से पुरुषार्थ बड़ा है, न कि कर्म। यदि बड़ा न कहें तो यह तो कहना ही होगा कि दोनों समतुल्य हैं। कर्म की सार्वभौम सत्ता नहीं है।

प्रश्न यह होता है कि कोई भी व्यक्ति पुरुषार्थ क्यों करेगा? किस दिशा में करेगा? कहां करेगा? पुरुषार्थ बिना प्रयोजन के होता नहीं और जैन दर्शन ने ईश्वर को अस्वीकार कर दिया तो फिर उसके सामने आदर्श क्या रहा, जिसके लिए वह पुरुषार्थ करे? कोई-न-कोई आदर्श चाहिए। आदर्श के बिना आदमी किस दिशा में जाएगा? कैसे पुरुषार्थ करेगा? प्रेरणा कहां से मिलेगी? ये स्वाभाविक प्रश्न हैं।

जैन दर्शन ने जगतकर्ता के रूप में ईश्वर को अस्वीकार किया है, किंतु आदर्श के रूप में अस्वीकार नहीं किया है। जैन दर्शन में ईश्वर एक नहीं, अनंत है। हमारे सामने आदर्श है अर्हत। वह जीवित ईश्वर है। पुरुष ईश्वर है, मुक्त ईश्वर नहीं है।

इस आदर्श की वंदना और भक्ति की जाती है। जैन दर्शन का मंत्र है—'णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं। इसमें पहला पद—'णमो अरहंताणं' हमारा आदर्श है।

—आचार्यश्री महाप्रज्ञ

जैन भारती
मार्च, 2003

प्रसंग

जीवन के रंग

जीवन की जटिलता और सरलता—ये दोनों ही जीवन के दो रंग हैं और जिसने इनके बीच सहज सामंजस्य अथवा समन्वय स्थापित करने की क्षमता हासिल कर ली है—मानना चाहिए कि उसका जीवन सफल है। जब हम जीवन की सफलता की बात सोचते हैं तो असफलता के पहलुओं की अनदेखी नहीं की जा सकती। तब हमें यह भी स्वीकार करना होगा कि सामान्यतः जीवन दो पाटों में ही विभाजित होकर रह जाता है—एक असफलता और दूसरा सफलता। तब हम यह भी स्वीकार कर सकते हैं कि जीवन के दो ही पक्ष हैं—सफलता और असफलता।

लेकिन 'जीवन के रंग' पर इस तरह विचार करते हुए इसके कई सारे फलक भी खुल सकते हैं और कहा जाएगा कि हर फलक का अपना एक रंग है—एक अस्तित्व है। आशा-निराशा, सफलता-असफलता, जटिलता-सरलता, सुख-दुख, सार्थक-निरर्थक या न जाने कितने रूप एक साथ एक ही जीवन के बन जाते हैं। इनके महत्त्व से किसी का मतभेद नहीं हो सकता है और यह भी नहीं हो सकता कि एक ही जीवन में ये सभी रंग कोई न देख पाया हो। हर किसी के जीवन में इन सभी धाराओं का प्रवाह चलता है और व्यक्ति का जीवन उससे प्रभावित भी होता है। इन्ही के साथ क्षोभ, हर्ष-विषाद, आसक्ति-अनासक्ति और कई तरह के अन्य पक्ष भी अपना असर छोड़ते ही हैं।

जीवन की ये सामान्य धाराएं हैं और चूंकि मनुष्य एक विवेकशील प्राणी है, वह सोचने और पुरुषार्थ करने की सामर्थ्य रखता है, अन्य जीवधारियों की तुलना में उसमें यह क्षमता सर्वाधिक होती है, विशिष्ट होती है—अतः उसके उत्तरदायित्व भी उसी तुलना में सर्वाधिक और विशिष्ट माने जाते हैं। लेकिन क्या यह देखने में नहीं आ रहा कि आज सर्वाधिक संतापग्रस्त भी मनुष्य ही है? सर्वाधिक विवेकशील और विशिष्टताओं से युक्त यह प्राणी आखिर इतना संतप्त क्यों है कि अन्य जीवधारियों के जीवन पर भी असंतुलन का घना कुहरा छा गया है और उसके जीवन पर भी बन आई है?

शक्ति का केंद्रीकरण एक ऐसा पक्ष है जो वर्तमान के असंतुलन का दाई है। मनुष्य की बौद्धिक क्षमता और उससे उपजी ताकत ने उसे शक्ति का केंद्र भी बनाया है। तब यहीं यह सवाल उठता है कि क्या शक्ति मनुष्य को विवेकच्युत करती है? क्या शक्ति मनुष्य को भयग्रस्त बनाती है? शक्ति से उत्पन्न

भयग्रस्तता ही क्या 'शक्ति संचय' के लिए मनुष्य को विवश करती है? और हिंसा का तांडव क्या इन्हीं सबकी फलश्रुति है? तब क्या यह कहा जाए कि ये सवाल मनुष्य के विवेकशील होने पर ही 'प्रश्नचिह्न' लगा रहे हैं? विश्व-पटल पर अमेरिका-इराक के द्वंद्व ने क्या ऐसा ही परिदृश्य नहीं खड़ा कर दिया है? दुनिया का बहुत बड़ा वर्ग और 'शक्ति-केंद्र' भी कहीं किंकर्तव्यविमूढ़-सा नजर नहीं आ रहा?

यदि हम विश्वासपूर्वक यह मानते हों कि विश्व का बहुत बड़ा वर्ग—जिसमें न करते-करते शक्ति और सामर्थ्य भी अपार है और अमेरिका-इराक का वर्तमान द्वंद्व समूचे विश्व के लिए खतरनाक भी मान रहा है, पर उसे टाल दिए जाने में उसकी शक्ति बेअसर साबित हो रही है, तो क्या हमें यह नहीं मान लेना चाहिए कि 'शक्ति-संचय' भी आखिरशः निरर्थक ही सिद्ध होता है? अमेरिका-इराक तक ही सीमित रखकर भी यदि 'शक्ति-संचय' के प्रभाव पर विचार करें, तब भी निष्कर्ष यही निकलता है कि इस 'शक्ति-संचय' से कौन डर रहा है? कहा जा सकता है कि विध्वंसमूलक शक्ति-संचय कभी किसी को निर्भय नहीं बना सकता। यूं भी इसकी निरर्थकता जग-जाहिर है।

हमारे ही देश में गांधी ने ऐसे शक्ति-केंद्रों को बड़ी सहजता से निरर्थक साबित कर दिखाया था। गांधी 'सत्ता' को 'संगठित हिंसा' का रूप ही मानते रहे और इसीलिए जिस पंचायत राज (आज जो दिख रहा है—वह पंचायत राज नहीं) व्यवस्था की अवधारणा गांधी ने दी, वह पूर्णतः और सही अर्थों में सत्ता का विकेंद्रीकरण ही था, यानी संगठित हिंसा का न्यूनतम रूप। वैसे भी राजसत्ता पर यदि जनसत्ता का वास्तविक प्रभाव हो तो तानाशाही और प्रकारांतर से हिंसा की संभावनाएं स्वतः न्यून हो जाती हैं। इस दृष्टि से जीवन-रंग का यह परिदृश्य भी हमें स्वीकार करना होगा जो वैयक्तिक होने के साथ-साथ समूहगत में बदल जाता है और इस तरह यह भी स्वीकार कर लेना होगा कि व्यक्ति के निजी जीवन पर समूह का प्रभाव सर्वाधिक रूप में पड़ता है। इस प्रकार हम यह भी कह सकते हैं कि केवल एकाकी रूप ही नहीं होता जीवन-रंग का, समूह-रूप भी होता है और मनुष्य को वही सर्वाधिक रूप से प्रभावित भी करता है। तब हमे यह भी मानना ही होगा कि एक इकाई के रूप में किसी स्तर पर जाकर मनुष्य का अस्तित्व वही नहीं रह जाता जिसकी मांग स्वतंत्रचेता रहते हुए निजी अस्मिता के लिए मनुष्य करता है।

दरअसल मनुष्य के स्वतंत्रचेता और उसकी निजी अस्मिता के रहते ही उसकी विवेकशीलता की बात की जा सकती है। तभी तो कम-से-कम शासन को अच्छे शासन की कसौटी माना जाता है। पर कम-से-कम शासन की व्यवस्था वहीं संभव हो सकती है जहां अध्यात्म और नैतिकता की पक्की आधार भूमि बनी हो। कोरी भौतिकता और विलासिता की चकाचौंध के चलते ऐसी आधार भूमि की आशा नहीं की जा सकती। इनके बीच संतुलन स्थापित होना जरूरी है। इसलिए यह भी जरूरी हो जाता है कि किसी स्तर पर 'राजसत्ता' नियंत्रित रहे, उस पर भी किसी तरह का अंकुश लगे। सर्वहित से इतर कुछ करते हुए राजसत्ता को भी यह लगता रहे कि उस पर भी किसी शक्ति का अंकुश है।

कहने को लोकतंत्रीय व्यवस्था में यह अंकुश जनता के हाथ में निहित होना माना जाता है। यह माना ही जाता है, है कहां? यह है भी तो तब, जब जनता के पास राजनेता जाए। एक बार चुन लिए जाने के बाद सत्तारूढ़ हुआ दल निर्वाचन-अवधि पूरी न होने तक जनता के पास क्यों जाएगा? जाहिर है, जनता का कोई अंकुश सत्ता पर नहीं रहता।

हां, धर्म का एक अंकुश हमारे समाज में अवश्य रहा है, पर अब ये बातें इतिहास की हो गई हैं। वर्तमान स्थितियों में इस तरह के अंकुश की संभावनाएं परिलक्षित ही नहीं हो रहीं। खुद धर्मसत्ता ही बहुत अंशों में अब राजसत्ता की मुखापेक्षी प्रतीत होती है। अलबत्ता सामाजिक जीवन में धर्म की उपस्थिति अभी भी विद्यमान है और मनुष्य के नैतिक बने रहने में धर्म की भूमिका भी मानी जा सकती है। इस दृष्टि से यह भी कहा जा सकता है कि जीवन-रंग को धर्म से पृथक नहीं किया जा सकता। किसी स्तर पर यह तो संभव है कि एक व्यक्ति धर्मसत्ता को तो अस्वीकार करे पर वह सत्य और अहिंसा में आस्था रखे।

तब 'धर्मसत्ता' की बनिस्बत 'धर्म' की भूमिका वर्तमान परिप्रेक्ष्य में अधिक कारगर मानी जा सकती है। अतः वे लोग, जो नैतिकता और अध्यात्म में विश्वास रखते हैं तथा सत्य, अहिंसा व अपरिग्रह जैसे सिद्धांतों को अमल में लाने के लिए प्रतिबद्ध हैं—उनके लिए यह जरूरी हो जाता है कि निरंतर बदरंग हो रहे जीवन-रंग को बचाने की दिशा में वे कारगर रूप से विचार करें। जीवन के रंग की आभा धूमिल न हो—मनुष्य के नाते हम सभी को यह सोचना चाहिए।

—शुभू पटवा

विमर्श

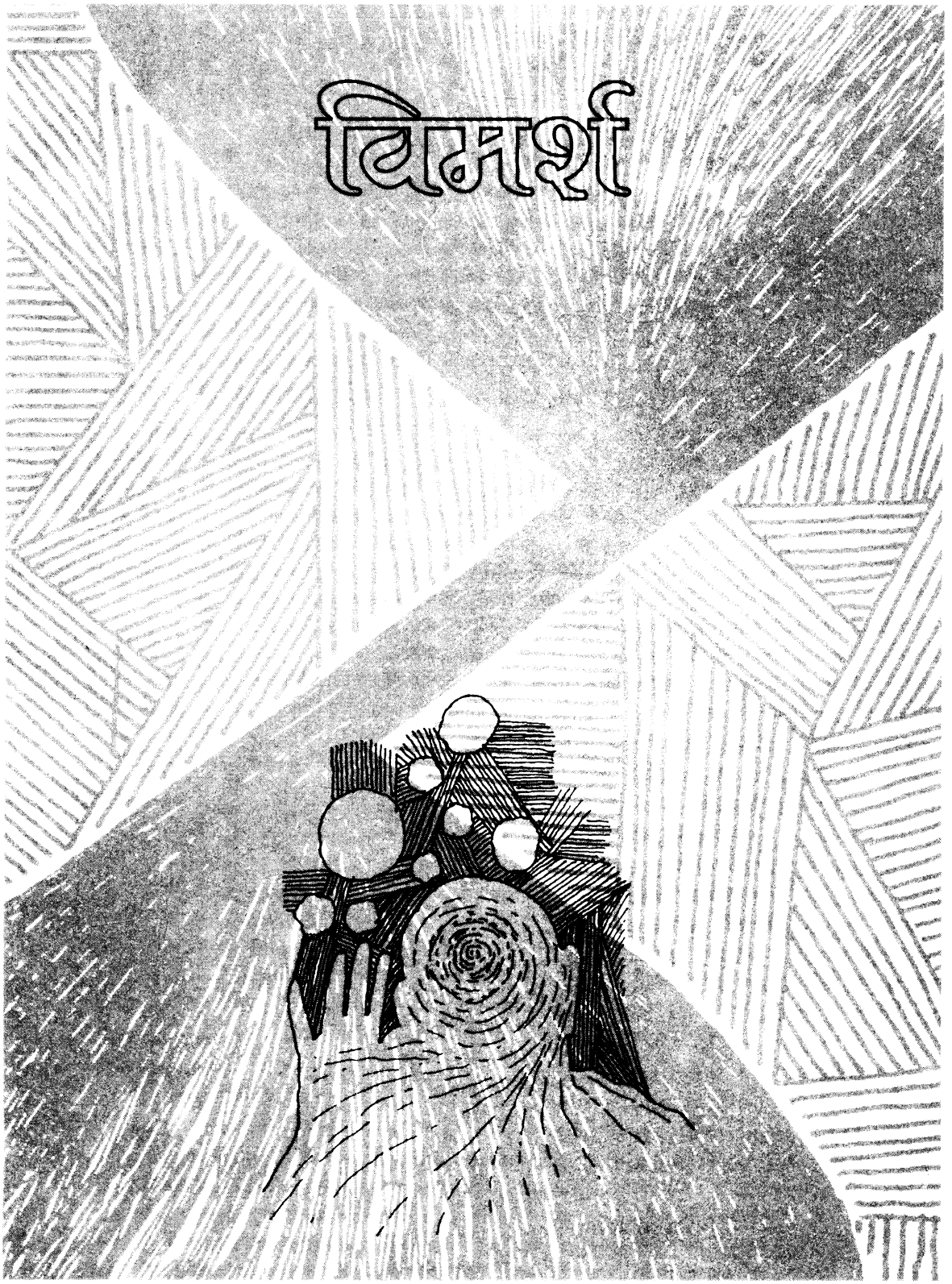

मैं ऐसा समझता हूं कि जो मानव-इकाई पूरी तरह व्यक्ति नहीं बनी है, वह पूरी तरह समाज के जीवन में भी योग नहीं देती है। लेकिन इस व्यक्तित्व के विकास में—और यह प्रकृति का सहज क्रम भी है—एक पक्ष होता है अहं का विकास, और दूसरा होता है आत्मा का विकास और उसकी पहचान। अहं और आत्मा अलग-अलग चीजें हैं; लेकिन दोनों की पहचान होने के साथ व्यक्ति बनता है। और क्रमशः जैसे-जैसे आत्म पक्ष का विकास होता है, उसकी पहचान बढ़ती है, वैसे और उसके साथ-साथ अहं पक्ष का महत्त्व कम होता जाता है, वहां पर 'ममेतर' जो है उसके साथ जुड़ने की बात ज्यादा महत्त्व की हो जाती है। और ऐसा कोई जरूरी नहीं है कि वह ममेतर मनुष्य हो। लेकिन यह बिल्कुल जरूरी है कि वह कभी मनुष्य को अपने से बाहर न छोड़े। मनुष्य-मात्र के साथ जुड़ने के लिए भी जो-कुछ है उस सबके साथ जुड़ना साधन हो सकता है। और दोनों प्रयत्न एक-दूसरे के पूरक भी हो सकते हैं। यह मैं मानता हूं।

—अज्ञेय

सामंजस्य का आधार—अध्यात्म-चेतना

आचार्यश्री महाप्रज्ञ

साधना के क्षेत्र में सबसे पहली बाधा है—मिथ्या दृष्टिकोण। मिथ्या दृष्टिकोण के दो प्रकार हैं—आभिग्रहिक और अनाभिग्रहिक। एक व्यक्ति यह जानता है कि यह बात सही नहीं है, पर वह आग्रहपूर्वक उस बात को पकड़ लेता है, उसे छोड़ता नहीं है। यह आभिग्रहिकी मनोवृत्ति है। एक व्यक्ति यह नहीं जानता कि ऐसा करना अच्छा नहीं है, इसलिए वह करता ही चला जाता है, यह अज्ञानजनित आग्रह है यह अनाभिग्रहिकी मनोवृत्ति कहलाती है।

बहुत लोगों को यह पता नहीं होता कि चीनी खाने से कोई नुकसान भी होता है, इसलिए वे चीनी खाते चले जाते हैं। ऐसे लोग भी हैं, जिन्हें चीनी खाने के परिणामों का ज्ञान है, फिर भी वे चीनी खाते हैं। वे जानते हैं—चीनी खाने से अम्लता बढ़ेगी, और भी कई हानियां होंगी, फिर भी वे चीनी छोड़ना नहीं चाहते। यह है आग्रह-चेतना। सब लोग जानते हैं—जर्दा या तंबाकू खाना स्वास्थ्य के लिए लाभप्रद नहीं है, शरीर और मन के लिए नुकसानदेह है, फिर भी अनेक व्यक्ति जर्दा और तंबाकू का व्यसन पाले हुए हैं।

आग्रह और समझ

यह आग्रह-चेतना बहुत बुरी होती है। व्यक्ति इसमें उलझ जाता है। सबका ज्ञान समान नहीं होता और सबकी चिंतनधारा भी समान रूप में विकसित नहीं होती। कुछ लोग ऐसे भी होते हैं, जिनका मस्तिष्क अविकसित होता है या अत्यंत स्वल्प विकसित होता है। ऐसी स्थिति में जिद्द होना, जिद्दी स्वभाव का होना स्वाभाविक है। यह प्रायः देखा गया है—जो व्यक्ति जितना ज्यादा नासमझ है, जितना ज्यादा चिंतन-शून्य है, जितना ज्यादा अज्ञानी है—उसमें उतना ही ज्यादा आग्रह होता है, पकड़ और जिद्द होती है। आपसी सामंजस्य का बहुत बड़ा विघ्न है—आग्रह-चेतना। व्यक्ति जिस बात को पकड़ लेता है, उसे छोड़ना नहीं चाहता। -नासमझी और आग्रह—दोनों साथ-साथ चलते हैं। आग्रह का मतलब है बचकानापन। आग्रह की यह वृत्ति सामंजस्य में बहुत बड़ी बाधा है। इस आग्रही मनोवृत्ति से सामंजस्य में बाधा पैदा हो जाती है। जैसे-जैसे आदमी समझदार होता है, उसमें बुद्धि और चिंतन का विकास होता है, समझने की क्षमता बढ़ती है वैसे-वैसे आग्रह की वृत्ति छूटती चली जाती है, अनाग्रह का भाव विकसित होता चला जाता है।

जहां एक ओर विचार-भेद से सौंदर्य प्रस्फुटित होता है, वहीं दूसरी ओर विचार-भेद से लड़ाइयां भी कम नहीं होतीं। व्यक्ति अपने से भिन्न विचार रखने वाले व्यक्ति को सह नहीं पाता। पारिवारिक और सामाजिक जीवन की मुख्य समस्या है—विचार-भेद को सहन न करना। वस्तुतः विचार में भेद होना स्वाभाविक है। वैचारिक स्वतंत्रता का होना बहुत आवश्यक है। विचारों को रौंदना, दबाना या कुचलना—यह मुर्दा समाज का लक्षण है। विचार-भेद के प्रति सहिष्णु होना, जीवंत समाज का लक्षण है, अध्यात्म-चेतना का जागरण है। जब तक अध्यात्म-चेतना नहीं जागती, तब तक आदमी अपने से भिन्न विचार को सहन नहीं कर सकता। वह भिन्न विचार रखने वाले व्यक्ति को विरोधी मानकर शत्रु घोषित कर देता है। जिस व्यक्ति में थोड़ी-सी भी नैतिक या आध्यात्मिक चेतना जागृत है, वह विचार-भेद के कारण किसी को विरोधी नहीं मानेगा।

अनाग्रह : वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास

सत्य की खोज का सबसे बड़ा साधन है—अनाग्रह। जिसमें अनाग्रह की वृत्ति नहीं होती, वह सत्य की खोज में कभी आगे नहीं बढ़ सकता। एक वैज्ञानिक किसी एक बात को कभी भी पकड़कर नहीं बैठ जाता। वह एक बार किसी बात को आधार अवश्य बनाता है,

पर उसके बाद भी अनुसंधान चलता रहता है, परीक्षण होते रहते हैं और उनसे जो निष्कर्ष आते हैं, उन्हें बिना किसी संकोच के स्वीकार कर लेता है।

एक वैज्ञानिक कभी यह नहीं कहता—मेरी यह मान्यता मैं कभी नहीं छोड़ूंगा। उसमें ऐसी पकड़ नहीं होती, आग्रह नहीं होता। वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास यही कहलाता है। आज धार्मिक व्यक्ति में भी वैज्ञानिक दृष्टिकोण के विकास की बड़ी जरूरत है। धार्मिक कहलाने वाले लोग भी ऐसे हैं, जो एक बात को पकड़ लेते हैं तो पकड़ ही लेते हैं, उसे छोड़ना नहीं चाहते। वे नई बात को स्वीकार करने के लिए तैयार ही नहीं होते।

आग्रह की समस्या

सत्य कितना अनंत और कितना विराट् होता है! जैन दर्शन की दृष्टि से विचार करें तो एक परमाणु के अनंत पर्याय होते हैं। वर्णमाला का प्रथम अक्षर है—'अ'। यदि पूछा जाए—'अ' के कितने पर्याय हैं? जैन दर्शन के अनुसार इसका उत्तर होगा—एक 'अ' के अनंत पर्याय होते हैं, अनंत अवस्थाएं होती हैं। हम कितने पर्यायों को जानते हैं? हम दो-चार या दस-बीस पर्यायों को जान लेते हैं और सूंठ के गांठिए को रखकर ही पंसारी बनने का आग्रह पाल लेते हैं। हम थोड़ी-सी बातों को जानकर धर्म के दावेदार या ठेकेदार बन जाते हैं। यह मान लेते हैं—यही सचाई है। हमारा यही अज्ञान और आग्रह सबसे बड़ा विघटनकारी तत्त्व है। सामाजिक बिखराव का भी यह बहुत बड़ा कारण है। परिवार और समाज में आग्रह बहुत चलता है। जो बात पकड़ ली जाती है, उसके संदर्भ में लोग दूसरी बात सुनने को तैयार ही नहीं होते। यह आग्रह की समस्या है।

अर्थहीन रूढ़िवाद क्यों?

इस वैज्ञानिक युग में भी अनेक रूढ़ियां चल रही हैं। इन सारी रूढ़ियों के चलने का कारण क्या है? रूढ़ि का अपना एक अर्थ होता है, अपने समय की एक उपयोगिता होती है। किंतु देश-काल के परिवर्तन के साथ वही लीक पीटते रहना कहां तक संगत है? जिस परंपरा या प्रणाली की उपयोगिता समाप्त हो गई, क्या उससे चिपके रहना उचित है? अर्थहीन परंपराओं से चिपके रहने का ही अर्थ है—रूढ़ि। इस अर्थहीन रूढ़िवाद से कई समस्याएं पैदा हो जाती हैं। व्यक्ति रूढ़ियों से इतना जकड़ा हुआ है कि उसका चिंतन सुलझा हुआ नहीं रह पाता। वह यह सोच ही नहीं पाता कि देश-काल के बदल जाने पर परंपरा को भी बदल देना चाहिए। इसका कारण है—आग्रह। आज बहुत-सारी ऐसी स्थितियां हमारे सामने हैं—मृत्युभोज की परंपरा, दहेज का प्रचलन—कभी रहा होगा, पर आज इन्हें मात्र रूढ़ि ही माना जा सकता है। लेकिन अभी भी कहीं-कहीं पकड़ इतनी है कि समाज के मुखिया लोग इसे बदलना ही नहीं चाहते, छोड़ना नहीं चाहते।

संदर्भ आत्मा का

धर्म के क्षेत्र में भी बहुत-सारे आग्रह पल रहे हैं। एक विचार को पकड़ लेते हैं तो उसे बदलना ही नहीं चाहते। हम आत्मा का संदर्भ ही लें। प्रत्येक आस्तिक आदमी आत्मा को स्वीकार करता है, पर उसके बारे में हमारी धारणाएं समान नहीं हैं। एक दर्शन कहता है—आत्मा सुख-दुख की कर्ता है। एक दर्शन का अभिमत है—आत्मा बिल्कुल निर्लिप्त है, शुद्ध, बुद्ध और अकर्ता है। समयसार में ऐसे अनेक मत प्रस्तुत किए गए हैं, जिनसे यह पता चलता है कि आत्मा के संदर्भ में अनेक प्रकार के विचार एवं दृष्टिकोण प्रचलित रहे हैं। आग्रह-चेतना की ओर इशारा करने वाली ऐसी कुछेक गाथाएं हैं—

तम्हा ण को वि जीवो वघादओ अत्थि अम्ह उवदेसे।
जम्हा कम्मं चेव हि कम्मं घादेदि इदि भणिदं।।
एवं संखुवएसं जे दु परूवेंति एरिसं समणा।
तेसिं पयडी कुव्वदि, अप्पा य अकारगा सव्वे।।
अह्वा मण्णसि मज्झं, अप्पा अप्पाणमप्पणो कुणदि।
एसो मिच्छसहावो, तुम्ह एयं मुणंतस्स।।

कोई भी जीव उपघातक नहीं है, क्योंकि कर्म ही कर्म को मारता है। इस प्रकार सांख्य मत का उपदेश जो श्रमण प्ररूपित करते हैं, उनके मत में प्रकृति ही कर्ता है, आत्मा अकर्ता है।

यदि यह मानते हों—मेरी आत्मा अपनी आत्मा की कर्ता है तो ऐसा जानने वाले व्यक्ति का यह मिथ्या स्वभाव है।

सामंजस्य का सूत्र

एक ओर आत्मा को अकर्ता माना जा रहा है तो दूसरी ओर उसे सुख-दुख का कर्ता माना जा रहा है। अपनी-अपनी पकड़ और अपना-अपना मत-आग्रह। अगर सामंजस्य बिठाना है तो आग्रह को छोड़ना होगा। आत्मा कर्ता भी है, अकर्ता भी है। वह अपने भावों की कर्ता है, पर भाव की कर्ता नहीं है।

जं भाव सहुमसुहं करेदि आदा स तस्स खलु कत्ता।
तं तस्स होदि कम्मं, सो तस्स दु वेदगो अप्पा।।

आत्मा कर्ता है। यह इस दृष्टि से सही है कि आत्मा अपने शुभ-अशुभ भाव की कर्ता है। आत्मा अकर्ता है। यह

भी सही है, क्योंकि वह पर-भाव की कर्ता नहीं है, वह किसी बाहरी वस्तु का निर्माण नहीं करती। यदि इस प्रकार कर्ता और अकर्ता-दोनों का सामंजस्य बिठा लें तो समस्या सुलझ जाए, आग्रह की बात समाप्त हो जाए।

आत्मा : शुद्ध या अशुद्ध

एक प्रश्न है—आत्मा शुद्ध है या अशुद्ध? बद्ध है या मुक्त? इस प्रश्न के संदर्भ में एक ही प्रकार का दृष्टिकोण नहीं है। कुछ मानते हैं—आत्मा शुद्ध, बुद्ध और निर्लिप्त है और कुछ मानते हैं—आत्मा शुद्ध नहीं है, बंधी हुई है।

हम सामंजस्य का सूत्र खोजें। आत्मा शुद्ध, बुद्ध और निर्लिप्त है, सुख-दुख के बंधन से मुक्त है। लेकिन वह तब है, जब आत्मा परमात्मा बन जाए। आत्मा अपने स्वरूप की दृष्टि से शुद्ध हो सकती है, किंतु अभी शुद्ध नहीं है, बंधन से बंधी हुई है। कर्म का बंधन, मोह का बंधन, मिथ्यात्व का बंधन—इन बंधनों से बंधी आत्मा शुद्ध नहीं है—

अण्णाई परिणामा तिण्णि मोहजुत्तस्स।
मिच्छत्तं अन्नाणं अविरदिभावो य णादव्वो।।
एदेसु य उवओगो तिविहो सुद्धो णिरंजणो भावो।
जं सो करेहि भावं उवओगो तस्स सो कत्ता।।

गंगा का पानी निर्मल और पवित्र है, किंतु उसमें कारखानों का गंदा कचरा मिल गया, क्या वह पानी निर्मल होगा? जब तक उस पानी का शोधन नहीं करेंगे तब तक वह पानी निर्मल नहीं हो पाएगा। हम यह मान लें—हमारी आत्मा स्वरूपतः शुद्ध है, किंतु वह वर्तमान में शुद्ध नहीं है। उसमें मोह और अज्ञान का गंदा पानी मिला हुआ है।

अनाग्रह-चेतना

सामंजस्य का सूत्र है—अनाग्रह। पकड़ न हो तो सामंजस्य संभव बन सकता है। हम इस भाषा में सोचें—निश्चय नय की दृष्टि में आत्मा निर्मल है, शुद्ध है, किंतु व्यवहार नय की दृष्टि से आत्मा निर्मल नहीं है। यदि आत्मा निर्मल हो तो व्यक्ति का सारा निर्णय ही दूसरा होगा। विकृत दृष्टि, विकृत चिंतन और विकृत निर्णय पवित्र आत्मा से नहीं आता। वह अपवित्र आत्मा से ही आता है। जहां अपवित्रता या मलिनता होती है, वहां निर्णय ही दूसरा होता है। जहां लोभ आता है, क्रोध आता है, वहां चेतना मलिन बन जाती है। जहां चेतना मलिन बनेगी, वहां निर्णय और निष्कर्ष बदल जाएंगे। समस्या यह है कि क्रोध-चेतना, लोभ-चेतना आदि-आदि जागती रहती हैं और आत्मा का चिंतन, निर्णय, निष्कर्ष सब-कुछ गलत और विकृत होते चले जाते हैं। हम इस बात को एकांगी दृष्टिकोण से स्वीकार न करें कि आत्मा शुद्ध ही है, या आत्मा अशुद्ध ही है। एकांगी-आग्रह को छोड़कर ही सामंजस्य बिठाया जा सकता है। यह अनाग्रह की चेतना है, सामंजस्य की चेतना है। स्वरूप की दृष्टि से आत्मा शुद्ध है, किंतु उसे वर्तमान अवस्था की दृष्टि से शुद्ध नहीं माना जा सकता।

जीवन व्यवहार : सामंजस्य

हम अपने जीवन व्यवहार में सामंजस्य की बात को महत्त्व नहीं देंगे तो शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व की बात संभव नहीं बन पाएगी। यदि साथ में रहना है, सह-चिंतन, सह-चित्त, सह-वास या सह-अस्तित्व चाहते हैं तो सामंजस्य का सूत्र अपनाना ही होगा। आग्रह को त्यागे बिना सामंजस्य संभव नहीं है। आग्रह-चेतना सामंजस्य में बहुत बड़ी बाधा है। हम अपने ज्ञान, चिंतन और समझ की शक्ति को बढ़ाएं, दूसरे की बात को समझने का प्रयत्न करें और यह मानकर चलें—सत्य अनंत है, जितना मैंने जाना है, वह उतना ही नहीं है। हम उसकी व्यापकता को स्वीकार करें, उसकी सीमा बांधने का प्रयास न करें।

आग्रह-चेतना निर्मल बने

सत्य सीमातीत है, उसे सीमित करने का प्रयत्न आग्रह को जन्म देगा। इस सिद्धांत को समझकर पकड़ की रस्सी को थोड़ा ढीला करें। ऐसा तो नहीं माना जा सकता कि आग्रह की गांठ एक साथ खुल जाएगी, किंतु आग्रह-चेतना कुछ निर्बल अवश्य बन जाएगी और आग्रह की गांठ धीरे-धीरे खुलने लगेगी। जहां आग्रह नहीं है, वहां समस्या नहीं है। जहां आग्रह से मुक्ति है, वहां समस्या का समाधान है। हम आग्रह को छोड़ें, जीवन में अनाग्रह-वृत्ति का विकास करें तो सामंजस्य का सूत्र उपलब्ध हो जाएगा। आचार्य कुन्दकुन्द ने अध्यात्म के क्षेत्र में सामंजस्य का जो दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है, वह जीवन-व्यवहार के संदर्भ में भी बहुत मूल्यवान है।

लेकिन मनुष्य कोई ईंट, कोई कापी या पेन नहीं है कि एक सांचे में ढालकर हजारों एक जैसे बनाए जा सकें। जड़ वस्तु का निर्माण यंत्र द्वारा होता है। मनुष्य चेतनावान प्राणी है। उसका निर्माण यंत्र द्वारा नहीं किया जा सकता। जहां चेतना है, वहां चिंतन है, स्मृति और कल्पना है, कुछ नया करने की भावना है। जहां ये सब होते हैं, वहां एकरूपता का होना कठिन ही नहीं, असंभव है। सामूहिक जीवन के लिए यह एक बड़ी समस्या है।

प्रश्न है रुचि का

सबसे पहली समस्या है रुचि का भेद। एक परिवार में दस आदमी एक साथ रहते हैं, उन सबकी अपनी-अपनी रुचि

होती है। सब लोगों की रुचि एक समान नहीं होती। एक व्यक्ति कुछ चाहता है, दूसरा व्यक्ति कुछ और चाहता है। इसका कारण रुचि-भेद का होना है। मनुष्य के भीतर एक रुचि होती है, एक प्रीति और आकर्षण होता है। बहुत महत्त्वपूर्ण है रुचि का प्रश्न। अधिकांश व्यक्तियों की रुचि का संबंध एक दिशा से ही जुड़ा हुआ है। इस संसार में जीने वाले व्यक्ति की रुचि काम-भोग में अधिक है। उसकी सारी रुचियों का केंद्र-बिंदु यही है। आचार्य कुन्दकुन्द ने इस सचाई की ओर संकेत करते हुए कहा—काम-भोग से.संबंधित बंध की कथा से सब लोग परिचित हैं, उसके प्रति प्रत्येक व्यक्ति की रुचि है, लेकिन काम-भोग की कथा से परे जाने की कथा करने वाले विरल हैं। बहुत कम लोग ऐसे हैं, जो काम-भोग से परे की चेतना में जीने की बात करते हैं—

सुदपरिचिदाणुभूदा, सव्वस्स वि कामभोगबंधकहा।
एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलहो विहत्तस्स।।

रुचि-भेद की समस्या

हम पारिवारिक जीवन को देखें। उसमें जितने रुचि-भेद सामने आते हैं, उन्हें लेकर पारिवारिक जीवन में बहुत बार झगड़े भी हो जाते हैं। एक प्रश्न है—भोजन का। भोजन की रुचि भी सबकी एक-सी नहीं होती। कोई मिठाई खाना पसंद करता है, कोई नमकीन खाना और किसी की रुचि होती है—खट्टे पदार्थ खाने में। यह रुचि-भेद बड़ा विचित्र होता है। एक व्यक्ति की रुचि है खूब गहने-आभूषण पहनने की, प्रदर्शन करने की। वह अपने-आप को दिखाना चाहता है। बहुत बार यह प्रदर्शन की रुचि विकट समस्या भी पैदा कर देती है। आज सामाजिक जीवन में जो-कुछ रूढ़ियां चल रही हैं, उनकी पृष्ठभूमि में यही प्रदर्शन की रुचि है। आदमी के पास सब-कुछ नहीं है, फिर भी वह अपने-आप को बहुत-कुछ दिखाना चाहता है। तर्कशास्त्र का एक न्याय है—याचितमंडनकम्। एक व्यक्ति के पास गहना नहीं है। वह दूसरे से मांगकर पहनेगा और यह दिखाने की कोशिश करेगा—मेरे पास इतना गहना है।

समाधान-सूत्र

यह रुचि-भेद की स्थिति है। जो इस स्थिति में सामंजस्य करना नहीं जानता, वह सामूहिक जीवन में कलह, लड़ाई और झगड़े से बच नहीं पाता। बहुत बड़ी कला है—रुचि का परिष्कार करना। आज टी.वी. के प्रति अत्यंत रुचि बढ़ती जा रही है। आजकल के बच्चों का टी.वी. के प्रति जितना आकर्षण है उतना किसी दूसरे के प्रति नहीं है। अगर इस समस्या पर ध्यान नहीं दिया गया तो एक ऐसी पीढ़ी का निर्माण हो जाएगा, जिसमें दायित्व की भावना ही नहीं होगी, कर्तव्य-चेतना नहीं होगी, समयोचित बोध नहीं रह पाएगा। यह भी एक तथ्य है—बच्चों को जबरदस्ती रोकना भी मुश्किल है। इसका समाधान यही है कि हम बच्चों की रुचि का परिष्कार करें।

जरूरी है परिष्कार

रुचि का नियंत्रण और परिष्कार होना जरूरी है। जहां सामाजिक एवं पारिवारिक सहवास का प्रश्न है, वहां रुचि को लड़कर नहीं बदला जा सकता। उसके लिए ऐसा उपाय खोजना चाहिए कि जिससे रुचि का परिष्कार भी हो जाए और लड़ाई का प्रश्न भी न आए।

विचार-भेद की समस्या

दूसरी समस्या है विचार-भेद की। सबके विचार एक समान नहीं होते। जैसे रुचि-भेद सहवास की एक समस्या है, वैसे ही विचार-भेद भी सहवास की एक बड़ी समस्या है। सबके सोचने का तरीका अलग-अलग होता है। व्यक्ति सोचता है—जिससे विचार नहीं मिलते, उनके साथ कैसे रहें? इसके समाधान के लिए प्रशिक्षण जरूरी है। हम इस सचाई को समझें—विचार-भेद और विरोध होना एक बात नहीं है। थोड़ा-सा विचार-भेद होता है, व्यक्ति यह मान लेता है—अमुक व्यक्ति मेरा दुश्मन है। वस्तुतः यह मानने की जरूरत नहीं है। विचार-भेद शत्रुता का नहीं, किंतु स्वतंत्रता का लक्षण है।

चिंतन-भेद : समाज-विकास का घटक तत्त्व

विचार की भिन्नता मनुष्य की स्वतंत्रता का सबसे बड़ा लक्षण है। अगर सब लोग एक ही तरह से सोचते तो मानव समाज बहुत बौना हो जाता। विभिन्न ढंग से सोचना ही समाज-विकास का साधन है। चिंतन का भेद समाज-विकास का मुख्य घटक रहा है। सब एक ही ढंग से सोचते तो यह नानात्व नहीं होता। जहां नानात्व नहीं होता, अनेकता नहीं होती, वहां सौंदर्य नहीं होता। सामाजिक सौंदर्य की अभिवृद्धि में यह विचार-भेद बहुत काम करता है। 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' की बात बहुत कही जाती है। केवल सत्य होना ही पर्याप्त नहीं है, कल्याणकारी भी होना चाहिए। ऐसा होता है तभी सौंदर्य प्रकट होता है।

जीवित समाज का लक्षण

जहां एक ओर विचार-भेद से सौंदर्य प्रस्फुटित होता है, वहीं दूसरी ओर विचार-भेद से लड़ाइयां भी कम नहीं होतीं। व्यक्ति अपने से भिन्न विचार रखने वाले व्यक्ति को

सह नहीं पाता। पारिवारिक और सामाजिक जीवन की मुख्य समस्या है—विचार-भेद को सहन न करना। वस्तुतः विचार में भेद होना स्वाभाविक है। वैचारिक स्वतंत्रता का होना बहुत आवश्यक है। विचारों को रौंदना, दबाना या कुचलना—यह मुर्दा समाज का लक्षण है। विचार-भेद के प्रति सहिष्णु होना, जीवंत समाज का लक्षण है, अध्यात्म-चेतना का जागरण है। जब तक अध्यात्म-चेतना नहीं जागती, तब तक आदमी अपने से भिन्न विचार को सहन नहीं कर सकता। वह भिन्न विचार रखने वाले व्यक्ति को विरोधी मानकर शत्रु घोषित कर देता है। जिस व्यक्ति में थोड़ी-सी भी नैतिक या आध्यात्मिक चेतना जागृत है, वह विचार-भेद के कारण किसी को विरोधी नहीं मानेगा।

असहिष्णुता का युग

सामाजिक एवं पारिवारिक जीवन का महत्त्वपूर्ण सूत्र है—सहिष्णुता। यदि सहिष्णुता है तो रुचि-भेद को सहा जाएगा, उसका परिष्कार किया जाएगा, किंतु उसके कारण शत्रुता का भाव पैदा नहीं होगा। यदि सहिष्णुता की चेतना जागृत है तो विचार-भेद को भी सह लिया जाएगा। शांत सहवास का सफल सूत्र है सहिष्णुता। वर्तमान युग की सबसे बड़ी समस्या है असहिष्णुता। व्यक्ति सहना जानता ही नहीं है। क्या अतीत में कभी ऐसा हुआ है कि एक विद्यार्थी अध्यापक को पीटे? आचार्य या प्रिंसिपल का घेराव कर उसे कमरे में बंद कर दे? क्या इतिहास में कहीं ऐसा प्रसंग आया है? अतीत में ऐसा कुछ नहीं होता था, किंतु वर्तमान में सब-कुछ हो रहा है। उस समय ऐसे संस्कार थे—गुरु को सहन करोगे तो विद्या बढ़ेगी। यह धारणा थी—विद्या ददाति विनयम्। आज स्थिति यह है—यदि मन के प्रतिकूल 'पेपर' भी आ जाता है तो विद्यार्थी शिक्षक की पिटाई कर देते हैं।

बदल गई है जीवन प्रणाली

युग कितना बदल गया। यदि हम इस बदले हुए युग में केवल लड़ने की ही बात करें तो समाज का भला नहीं होगा। हमें परिष्कार का सूत्र अपनाना होगा या कोई नया मार्ग खोजना होगा। हम यह नहीं कहते—आज का विद्यार्थी बहुत बुरा हो गया है, लेकिन यह अवश्य कहा जा सकता है कि आज विद्यार्थी को प्रारंभ से ही अच्छे संस्कार नहीं दिए जा रहे हैं। जीवन की सारी प्रणाली बदल गई है। ऐसा लगता है—विद्यार्थी को शुरू से ही उद्दंडता के संस्कार दिए जा रहे हैं। उन्हें बार-बार उद्दंडता और उच्छृंखलता के स्वर ही सुनाई देते हैं और जब प्रसंग आता है तब वे उन्हीं का उपयोग कर लेते हैं। यदि रुचि-परिष्कार की बात, मस्तिष्कीय प्रशिक्षण की बात प्रारंभ से ही चले तो आदमी इतना असहिष्णु न बने, उसमें सहिष्णुता की चेतना जाग जाए।

प्रश्न है उद्देश्य का

सहिष्णुता का विकास संभव है, किंतु वह संभव बनता है प्रशिक्षण के द्वारा। सहिष्णुता के विकास का एक साधन है—कायसिद्धि। यदि हम आसन आदि के द्वारा शरीर को साधने का प्रशिक्षण लें तो असहिष्णुता की समस्या से बच सकते हैं। एक बच्चा असहिष्णु है, इसका कारण वह ही नहीं है, उसके अभिभावक भी हैं। यदि बच्चे को प्रारंभ से ही सहिष्णुता की शिक्षा दी जाए, शरीर को साधने का उपक्रम सिखाया जाए तो वह कभी असहिष्णु नहीं बन पाएगा। अभिभावक सोचते हैं—लड़के को अच्छी तरह पढ़ा दें ताकि वह अच्छी कमाई कर सके, लेकिन वे यह नहीं सोचते—क्या पैसा कमाना ही जीवन का उद्देश्य है? वह वरदान नहीं, अभिशाप भी बन सकता है। जीवन का निर्माण नहीं किया, जीवन जीने की कला नहीं सिखाई, तो मानना चाहिए—बंदर के हाथ में तलवार थमा दी गई है।

जीवन-निर्माण का सूत्र

हम ध्यान दें जीवन-निर्माण पर। जीवन-निर्माण का सूत्र है ध्यान। ध्यान का प्रयोग जीविका के लिए नहीं है, जीवन-निर्माण के लिए है। जब जीवन का निर्माण होता है तब जीविका की बात भी पीछे नहीं रहती। ध्यान के द्वारा दक्षता बढ़ती है, शक्ति बढ़ती है, स्मृति बढ़ती है, चातुर्य आता है, किंतु इन सबसे महत्त्वपूर्ण जो उपलब्धि ध्यान के द्वारा प्राप्त होती है—वह है, जीवन-निर्माण। जीवन का निर्माण होता है तो शांत सहवास की समस्याएं, आग्रह और रुचि-भेद की समस्याएं, विचार-भेद और विरोधाभास की समस्याएं, निषेधात्मक भाव की समस्याएं समाहित हो जाती हैं। ध्यान से जागरण होता है विधायक विचार का, मैत्री भाव का, सबके प्रति सम्मान की भावना का और सामंजस्यपूर्ण चेतना का। जब चेतना की यह स्थिति बनती है तब पारिवारिक और सामाजिक जीवन बहुत सुखद बन जाता है। इन सबकी उपलब्धि के लिए जरूरी है—ध्यान का प्रशिक्षण। ध्यान आध्यात्मिक जीवन के लिए ही नहीं, पारिवारिक और सामाजिक जीवन के लिए भी अनिवार्य है। यह एक सचाई है। इस सचाई को समझने वाला प्रत्येक व्यक्ति परिष्कार के सूत्र खोजेगा, अपने जीवन-निर्माण पर ध्यान देगा। जो परिष्कार की बात सोचता है, वह अभय का मंत्र सीख लेता है। रुचि परिष्कार का सूत्र है—कामना का

परिष्कार। काम-परिष्कार होने पर ही रुचि-परिष्कार का सूत्र हस्तगत हो सकता है, रुचि-भेद से उत्पन्न विग्रह को समाप्त किया जा सकता है।

जब विग्रह समाप्त होंगे तो जीवन में शांति का प्रादुर्भाव स्वतः शुरू हो जाएगा।

हमारे जीवन के शब्दकोष का सबसे मूल्यवान शब्द है—शांति। अगर उसे निकाल दिया जाए तो हमारा जीवन भी नहीं बचेगा। यदि बचेगा तो ऐसा बचेगा, जिसे कोई जीना भी पसंद नहीं करेगा। पैसे और रोटी का, घर और कपड़े का या अन्य पदार्थों का मूल्य तभी है जब मन में शांति है। शांति नहीं है तो सारे मूल्य मूल्यहीन बन जाते हैं।

क्रोध : क्रोधी

दो शब्द हैं—क्रोध और क्रोधी। क्रोध एक आवेश है और क्रोधी है क्रोध करने वाला। जब क्रोध की विकट स्थिति आती है, उस समय व्यक्ति क्रोधी नहीं बल्कि स्वयं क्रोध बन जाता है। समयसार का एक सूत्र है—

कोहुवजुत्तो कोहो, माणवजुत्तो य माणमेवादा।
माउवजुत्तो माया, लोहुवजुत्तो हवदि लोहो।।

क्रोध में प्रयुक्त आत्मा क्रोध है, मान में प्रयुक्त आत्मा मान है, माया में प्रयुक्त आत्मा माया है, लोभ में प्रयुक्त आत्मा लोभ है।

जब आत्मा क्रोध में प्रयुक्त होती है, स्वयं क्रोध बन जाती है। कभी-कभी क्रोध का ऐसा विकराल रूप आता है कि व्यक्ति का पूरा शरीर क्रोधमय बन जाता है। क्रोध की यह समस्या बहुत व्यापक है। यह एक जन्मजात-जन्मगत समस्या है।

तोड़ता है अहंकार

जैसे पारिवारिक विघटन में क्रोध का आवेश एक मुख्य कारक तत्त्व बनता है, वैसे ही अहंकार की भी पारिवारिक विघटन में कम भूमिका नहीं है। एक व्यक्ति का अहंकार समूचे परिवार की स्थिति को गड़बड़ा देता है। अहंकारी व्यक्ति दूसरों की बात को सुनता भी नहीं है, मानता भी नहीं है। वह अपनी अहंकारी वृत्ति को ही पोषित करता रहता है। उसके अपने मन में जो जंचता है, वही वह करता है। अहंकार का आवेश बड़ा भयंकर होता है। अहंकारी मनुष्य में पुरुषार्थ कम होता है, अकर्मण्यता ज्यादा होती है, निठल्लापन ज्यादा होता है। जब अहंकार जागता है, आदमी का पुरुषार्थ सो जाता है। क्रोध और अहंकार—दोनों प्रकार के ये आवेश व्यक्ति को गिराते हैं। आवेश कभी जोड़ता नहीं, तोड़ता है। अहंकारी आदमी अपने-आप को ही श्रेष्ठ मानकर चलता है। वह कैसे जोड़ेगा? जहां मैं श्रेष्ठ हूं और दूसरे अपकृष्ट हैं, हीन हैं, वहां दूसरे लोग कैसे जुड़ेंगे?

अकड़ : पकड़

आवेश पारिवारिक और सामुदायिक जीवन जीने में बहुत बड़ी बाधा उत्पन्न करते हैं। सामुदायिक और अच्छा पारिवारिक जीवन वही व्यक्ति जी सकता है, जिसमें विनम्रता होती है—अहंकार का आवेश नहीं होता। जो व्यक्ति बड़ा होकर भी विनम्र होता है, उसी का जीवन शांतिमय होता है।

लोभ का आवेश

सामुदायिक चेतना के न जागने में, पारिवारिक विघटन में लोभ का हाथ भी कम नहीं है। एक व्यक्ति के मन में लोभ जागता है, सब-कुछ टूटना-बिखरना शुरू हो जाता है। लोभ के कारण आदमी सारी सफलताओं से भी वंचित रह जाता है। दूसरे का आगे आना उसे पसंद नहीं आता। वह स्वयं ही सब-कुछ पाना चाहता है। यह लोभ की वृत्ति अपना सेहरा सबसे ऊंचा रखना चाहती है। सामुदायिक चेतना के जागरण में लोभ का आवेश एक बहुत बड़ा विघ्न है। परिवार के विघटन में भी यह बहुत बड़ा कारण बनता है। पांच-दस आदमी एक साथ कार्य कर रहे हैं, काम ठीक चल रहा है, अच्छी कमाई है, पर एक आदमी के मन में एक सनक आती है, लोभ जागता है और वह छिपे-छिपे अपना घर भरना शुरू कर देता है, बिखराव शुरू हो जाता है, लड़ाई-झगड़े शुरू हो जाते हैं। कोई लाभ में नहीं रहता। यह लोभ लाभ को भी गंवा देता है। जहां लोभ बढ़ता है, वहां लाभ की हानि शुरू हो जाती है।

समाधान है अध्यात्म-चेतना

जब तक हम तीन प्रकार के आवेश—क्रोध का आवेश, अहंकार का आवेश, लोभ का आवेश—को कम करना नहीं जानते तब तक सामुदायिक जीवन की बात सोची ही नहीं जा सकती। क्रोध के सामने क्रोध करेंगे तो क्या क्रोध कम हो जाएगा? जब दूध में उफान आता है, चूल्हे में एक लकड़ी और डाल दें तो क्या उफान मिट जाएगा? इसी प्रकार अहंकार के सामने अगर अहंकार आएगा तो वह कभी शांत नहीं होगा, वह अधिक फुफकारने लग जाएगा। जैसे एक व्यक्ति लोभ करता है वैसे ही दूसरा भी लोभ करने लग जाए, तो क्या लोभ शांत हो पाएगा? कभी संभव नहीं है। शांत होने का एकमात्र उपाय है—आध्यात्मिक-चेतना का विकास। जैसे-जैसे अध्यात्म-चेतना जागेगी, आवेश शांत होते चले जाएंगे। एक ओर है आवेश की चेतना और दूसरी ओर है

शांति की चेतना, उपशमन की चेतना। क्रोध का उपशमन, अहंकार का उपशमन और लोभ का उपशमन। उफनते दूध में पानी का छींटा दिया, उपशमन हो गया। यह पानी का छींटा है—अध्यात्म की चेतना, धर्म की चेतना।

समस्या का कारण

कठिनाई यह है—आज न बच्चों में धर्म और अध्यात्म-चेतना जगाने का कोई प्रयत्न किया जाता है और न ही बड़े लोगों में उसके जागरण का प्रयत्न होता है। हम जानते भी नहीं हैं कि इन आवेशों का शमन कैसे किया जाए? हम शमन की पद्धति नहीं जानते। धर्म भी चलता है तो मात्र रूढ़ि के रूप में चलता है। मंदिर, मस्जिद, स्थानक आदि बने हुए हैं, उनमें चले जाओ और रूढ़ क्रियाकांड कर लो, किंतु अपनी वृत्तियों को कैसे बदला जाए? कैसे इन आवेशों को कम किया जाए? इनका उपाय क्या है—यह बात न बताई जाती है और न ही इस बात को जानने का प्रयत्न किया जाता है। धर्म करते-करते एक व्यक्ति 50-60 वर्ष का हो जाता है। जब उससे पूछा जाता है—भाई! क्या बदलाव आया? उसका उत्तर होता है—पहले युवक था तब गुस्सा कम आता था। अब बूढ़ा हो गया हूं, नियंत्रण की शक्ति भी नहीं रही है, ज्यादा गुस्सा आता है। मैंने देखा है—बूढ़े आदमियों में लालच-लोभ की वृत्ति भी बहुत होती है। वे सोचते हैं—जितना बटोर सकें, बटोर लें, फिर तो मरना ही है। जैसे-जैसे नाड़ी तंत्र शिथिल होता है, नियंत्रण की क्षमता कम होती चली जाती है, आवेश और ज्यादा बढ़ते चले जाते हैं।

समाधान है दीर्घश्वास का प्रयोग

हम इन्हें कम करने की राह खोजें। यदि हमारे पास चाबियां हैं तो हम ताला खोल सकते हैं। दीर्घश्वास का प्रयोग एक समाधान है। हम लंबा श्वास लें, आवेश शांत होगा। दीर्घश्वास के प्रयोग से ये आवेश—क्रोध, अहंकार और लोभ शांत होंगे। क्रोध तभी आता है जब आदमी छोटा श्वास लेता है या जब क्रोध आता है तो वह श्वास को छोटा बना देता है। श्वास की संख्या, जो साधारण स्थिति में 15/16 होनी चाहिए, क्रोध के हालात में बढ़ती चली जाती है, वह संख्या तत्काल 30/50 तक चली जाती है। आवेश आता है, श्वास की संख्या बढ़ जाती है। आवेश शांत होता है, श्वास की संख्या घट जाती है। जब हम लंबे श्वास लेंगे, हमारी चेतना श्वास के साथ जुड़ जाएगी। इसका अर्थ है—चेतना क्रोध के साथ नहीं जुड़ेगी, क्रोध का उपशमन हो जाएगा। चेतना अहंकार के साथ नहीं जुड़ेगी, अहंकार का उपशमन हो जाएगा, चेतना लोभ के साथ नहीं जुड़ेगी, लोभ का उपशमन हो जाएगा। जब-जब हमारी चेतना इन आवेशों के साथ जुड़ती है तब हमारी चेतना स्वयं क्रोध बन जाती है, अहंकार बन जाती है, लोभ बन जाती है।

विश्लेषण करें

एक उपाय है—विश्लेषण। संश्लेषण नहीं, विश्लेषण करें। क्रोध और चेतना को अलग-अलग कर दें। मिट्टी को अलग कर दें, सोने को अलग कर दें। छाछ को अलग कर दें, मक्खन को अलग कर दें। यदि हम यह विश्लेषण निरंतर करते रहें तो आवेश शांत हो सकते हैं। इस प्रक्रिया में दीर्घश्वास का वही काम है जो काम बिलौना करने का है। यदि छाछ को अलग करना है और नवनीत को अलग करना है तो बिलौने की प्रक्रिया अपनानी होगी। जैसे-जैसे मथाना (झेरणा) चलेगा, मक्खन ऊपर आता चला जाएगा, छाछ नीचे बैठती चली जाएगी। यही काम दीर्घश्वास की प्रक्रिया का है। जैसे-जैसे दीर्घश्वास का प्रयोग चलेगा, आवेश नीचे बैठते चले जाएंगे, चेतना ऊपर आती चली जाएगी। दीर्घश्वास का प्रयोग छोटा-सा प्रयोग लग सकता है। किंतु यह चेतना के रूपांतरण का एक महत्त्वपूर्ण प्रयोग है, चेतना के परिष्कार का एक शक्तिशाली प्रयोग है। जो व्यक्ति दीर्घश्वास को अपना आलंबन बना लेता है वह शायद अनेक समस्याओं का पार पा जाता है।

महत्त्वपूर्ण है मन की शक्ति

कठिनाई यह है कि लोग श्वास लेना ही नहीं जानते। श्वास लेना सिखाया ही नहीं जाता। इस स्थिति में शांतिपूर्ण सहवास कैसे संभव है? इसके लिए जरूरी है प्रारंभ से ही बालकों को प्रशिक्षित करने का अभियान चले। हम इस सचाई को समझें। जैसे-जैसे यह सचाई जीवन में आएगी वैसे-वैसे जीवन का मार्ग सरल और निर्मल बनता चला जाएगा, शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व की बात अपने-आप फलित होगी। हमारे जीवन की सबसे महत्त्वपूर्ण बात है मन की शांति। शांति नहीं होती है तो पूरा जीवन रूखा-सूखा और विफल-सा लगता है। हम जीवन को सिर्फ पैसे के साथ ही न जोड़ें। यदि शांति का ध्येय सामने रहा तो शांतिपूर्ण सहवास होगा, पारिवारिक जीवन सुखद होगा, आनंदमय होगा और परिवार में कैसे रहना चाहिए, समाज में कैसे जीना चाहिए, इसकी कला अपने-आप हाथ में आ जाएगी, समयसार में अध्यात्म-चेतना के जो महत्त्वपूर्ण सूत्र उपलब्ध हैं, वे आत्मिक शांति के साथ-साथ पारिवारिक शांति के लिए भी महत्त्वपूर्ण हैं। उनका उपयोग करने वाला शांतिपूर्ण सहवास का मंत्र उपलब्ध कर लेता है। ❖

भारत : एक परंपरा, एक भावना, एक प्रकाश

डॉ. एस. राधाकृष्णन्

जहां अन्य सभ्यताएं नष्ट हो गईं या उन परिवर्तनों में विलीन हो गईं, जो पिछले पांच हजार वर्षों के काल-प्रवाह में होते रहे, वहां भारतीय सभ्यता, जो मिस्र और बैबीलोन की सभ्यताओं की समकालीन है, अब भी कार्य कर रही है। हम यह नहीं कह सकते कि यह अपनी मंजिल पूरी कर चुकी है या अब इसका अंत निकट है। भारतीय जीवन के कुछ पहलुओं को देखकर ऐसा प्रतीत हो सकता है कि भारत मृत मान्यताओं और क्षीण होती हुई परंपराओं का देश है। परंतु हमारे यहां क्रांतदर्शी आत्माएं हैं, जो इस क्षीणता पर से परदा हटाने के लिए और सीधे-सादे सत्यों की फिर दृढ़ता से घोषणा करने के लिए कटिबद्ध हैं। इससे उसकी जीवनी शक्ति का पता चलता है। उन लोगों की दृष्टि में, जिनके मन में उन्नति की धारणा उन अनगिनत परिवर्तनों के रूप में ही बनी हुई है, जो अनंत परंपरा में एक के पीछे एक आते-जाते हैं, भारतीय संस्कृति का डटे रहना एक ऐसा तत्त्व है, जिसके स्पष्टीकरण की आवश्यकता है। किस विचित्र सामाजिक कीमियागरी से भारत ने अपने विजेताओं को वश में कर लिया और उन्हें रूपांतरित करके अपना आत्म और सार ही बना लिया? इतने सामाजिक देशांतर गमनों (प्रवसनों) में, उथल-पुथलों और राजनीतिक परिवर्तनों में, जिन्होंने अन्यत्र समाज का रूप ही बदल डाला है, वह कैसे लगभग ज्यों-की-त्यों बनी रहीं? इसका क्या कारण है कि उसके विजेता अपनी भाषा, अपने विचार और प्रथाएं उस पर लाद पाने में सफल नहीं हुए; यदि थोड़ी-बहुत सफलता मिली भी, तो बिल्कुल छिछली और ऊपरी ढंग की? भारत को अपने इस जीवन-उद्देश्य में जो सफलता मिली है, वह बल के प्रयोग से या आक्रमणात्मक गुणों के विकास से नहीं मिली। क्या भारत और चीन के भाग्य में प्रकृति के उस सामान्य नियम के दृष्टांत नहीं हैं, जिनके द्वारा तलवार जैसे दांतों वाली व्याघ्र जातियों के सदस्य तो घटकर बहुत कम रह गए हैं, जबकि प्रतिरोध न करनेवाली भेड़ें बहुत बड़ी संख्या में सुरक्षित बची रही हैं?

हिंदुत्व किसी जातीय तथ्य पर आधारित नहीं है। यद्यपि हिंदू सभ्यता का मूल वैदिक आर्यों के आध्यात्मिक जीवन में है और उसके मूल के चिह्न अभी तक लुप्त नहीं हुए हैं, फिर भी इसने द्रविड़ों तथा यहां के अन्य निवासियों के सामाजिक जीवन से इतना कुछ ग्रहण किया है कि आधुनिक हिंदुत्व में से वैदिक और वैदिक-भिन्न तत्त्वों को सुलझाकर अलग-अलग कर पाना कठिन है। इसके भाष्य बहुत जटिल, सूक्ष्म और अविच्छिन्न होते रहे हैं। जिन विभिन्न समुदायों ने हिंदू धर्म को ग्रहण कर लिया था, वे अपने आस-पास के समाज के स्तर तक उठ आए, उन्होंने हिंदू धर्म की भावना की शिक्षा ली, इसके रंग में रंग

‘हिंदुत्व विचार और महत्त्वाकांक्षाओं का एक सजीव और स्वयं जीवन की गतियों के साथ गति करता हुआ उत्तराधिकार है; एक ऐसा उत्तराधिकार, जिसमें भारत की प्रत्येक जाति ने अपना सुस्पष्ट और विशिष्ट योग दिया है। इसकी संस्कृति में एक खास तरह की एकता है, यद्यपि वह एकता जांच करने पर विभिन्न रंगों और अभावों में विलीन हो जाती है।’

❑

हिंदुत्व के प्रश्न पर हमारे देश में इन दिनों जो चर्चाएं चल रही हैं और उसके कारण जिस तरह से विभ्रम फैलता जा रहा है—विश्व विख्यात चिंतक डॉ. एस. राधाकृष्णन् के इस आलेख से हमें स्पष्ट दृष्टि प्राप्त हो सकती है और लगातार फैल रहे विभ्रम से हम अपने आपको मुक्त रख सकते हैं। अपने पाठकों के लिए इसी दृष्टि से यह आलेख—

गए और इसकी उन्नति में योग दिया। रामायण और महाभारत महाकाव्यों में हिंदू आदर्शों के प्रसार का वर्णन है, हालांकि उनमें इतिहास के तथ्य किंवदंतियों की धुंध में छिप-से गए हैं। जब तक यह प्रसार भारत के अधिकांश भागों में प्रभावी हो पाया, तब तक वैदिक मान्यताओं की दुनिया ही बदल चुकी थी। यज्ञ जैसी पुरानी संस्थाओं की निंदा होने लगी थी और भक्ति-भावना का एक नया ज्वार वातावरण पर छाता जा रहा था। हिंदुत्व का क्षेत्र उस भौगोलिक प्रदेश तक ही सीमित नहीं है, जिसे भारत कहा जाता है। प्राचीन काल में इसका प्रभाव चंपा, कंबोडिया, जावा और बाली तक फैला। ऐसा कोई कारण नहीं कि जो इसके पृथ्वी के दूरतम भागों तक फैलने में बाधक हो। भारत एक परंपरा, एक भावना, एक प्रकाश है। उसकी भौतिक और आत्मिक सीमाएं एक नहीं, पृथक-पृथक हैं।

हिंदुत्व विचार और महत्त्वाकांक्षाओं का एक सजीव और स्वयं जीवन की गतियों के साथ गति करता हुआ उत्तराधिकार है; एक ऐसा उत्तराधिकार, जिसमें भारत की प्रत्येक जाति ने अपना सुस्पष्ट और विशिष्ट योग दिया है। इसकी संस्कृति में एक खास तरह की एकता है, यद्यपि वह एकता जांच करने पर विभिन्न रंगों और अभावों में विलीन हो जाती है। यद्यपि मनन के अरुणोदय काल से ही एकता का स्वप्न इस भूमि पर मंडराता रहा है और नेताओं की कल्पना में आता रहा है, फिर भी मतभेद पूरी तरह समाप्त नहीं हो पाए हैं। भारतीय समाज की वर्तमान दशा को सुधारने के लिए, समय के महत्त्व के उपयुक्त इसके जीवन को नया रूप देने के लिए हमें इसकी आत्मा को, जो हमें उत्तराधिकार से अपने खून में मिली है, उन अलौकिक आदर्शों को, उन वस्तुओं को, जो हमारे अस्तित्व की गहराइयों में चिरंतन संभावनाओं के रूप में पड़ी हैं, नए सिरे से खोज निकालना होगा। हमारी मान्यताएं नहीं बदलतीं; परंतु उन्हें व्यक्त करने के ढंग और साधन बदल जाते हैं। भारत आध्यात्मिक मान्यताओं को अन्य मान्यताओं की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्व देता है।

आध्यात्मिक मान्यताएं

आत्मिक अनुभव का प्रारंभ ही यह मान लेने से होता है कि संसार, जिस रूप में इस समय है, असंतोषजनक है और मानव-स्वभाव, जैसा इस समय है, आदर्श से दूर है। परंतु मनुष्य के भाग्य में इस अपूर्णता से घबराकर भाग खड़े होना नहीं लिखा, अपितु उसे तो इसका प्रयोग सुधार के लिए प्रेरणा के रूप में करना है। अज्ञान और अपूर्णता ऐसे पाप नहीं हैं, जिन्हें हमें हटाकर परे कर देना हो, अपितु ठीक ऐसी दशाएं हैं, जिनमें आत्मा प्रकट हो सकती है। हमारी सीमित चेतना का उपयोग उच्चतर, असीम आत्म-अस्तित्व और परम आनंद की प्राप्ति के लिए प्रारंभ के रूप में किया जाना है। सीमित और असीम, अपूर्ण और पूर्ण परस्पर चिर-विरोधी नहीं हैं। यहां तक कि अद्वैत वेदांत भी केवल इतना नहीं कहता कि सत्य और माया में विरोध है, अपितु यह भी कहता है कि ब्रह्मा यहां है और हर वस्तु में है और यह कि यह सब वह (ब्रह्म) ही है। ब्रह्मज्ञानी इस संसार में चलता-फिरता और काम करता है, फिर भी वह शांति और स्वतंत्रता में निवास करता है। इस संसार से जिस सौंदर्य और पूर्णता की व्यंजना होती है, उसके लिए हमें परलोक की ओर ताकने की आवश्यकता नहीं है। आध्यात्मिक मुक्ति का स्थान यह संसार ही है।[1] ब्रह्मांडीय प्रक्रिया किसी एक ही तत्त्व की पुनरावृत्ति-मात्र नहीं है, अपितु एक आगे की ओर गति है, मूल अचेतना की दशा से अधिक और अधिक विकसित चेतना की ओर निरंतर उन्नति। अभी हमारे सामने ऐसी बहुत-सी आध्यात्मिक संभावनाएं हैं, जिन तक हम पहुंच नहीं पाए हैं। तैत्तिरीय उपनिषद्, जिसमें इस क्रमिक उन्नति की बात कही गई है, उस अपूर्ण मानसिक अस्तित्व पर ही, जिसे मनुष्य कहा जाता है, बस नहीं कर देती। विज्ञान या मानवीय बुद्धि आध्यात्मिक विकास का अंतिम सोपान नहीं है। इससे भी कहीं अधिक बड़ी एक और चेतना है, जिसकी विशेषता है असीम आत्म-अस्तित्व, आनंद की विशुद्ध चेतनता और स्वतंत्रता, जो अंतर्वासी 'दिव्य' (ब्रह्म) को अंशतः और अपूर्णतया नहीं, अपितु समूचे तौर पर और प्रतिबंधहीन रूप से मुक्त कर देती है। अचेतन भौतिक तत्त्व (अन्न) के जगत से, जीवन (प्राण), मन (मनः) और बुद्धि (विज्ञान) के जगतों में से होते हुए सत्, चित् और आनंद की ओर विकासात्मक उन्नति अपने-आप या किसी मन की मौज के अनुसार नहीं हो रही, अपितु दिव्य (ब्रह्म) की प्रेरणा से ही हो रही है। मानव-मन की अपेक्षा कहीं अधिक बड़ी चेतना की ओर क्रमिक, आत्मिक उन्नति अपने-आप में दिव्य गतिविधि की अभिव्यक्ति है। सांसारिक जीवन अंतिम लक्ष्य से ध्यान विचलित करने वाला नहीं है, अपितु अंतिम लक्ष्य को प्राप्त करने का साधन है। मानवीय जीवन को अशोभन नहीं समझा जाना चाहिए।[2] मानवीय इच्छाएं ही वे साधन हैं, जिनके द्वारा आदर्श वास्तविक बनता है। यह संसार कोई भूल या भ्रम नहीं है, जिसे आत्मा द्वारा दूर किया जाना हो, अपितु यह तो आत्मिक विकास का एक दृश्य है, जिसके द्वारा भौतिक तत्त्व में से दिव्य चेतना आविर्भूत हो सकती है। शंकराचार्य की

दृष्टि में संपूर्ण ब्रह्मांडीय प्रक्रिया का लक्ष्य आध्यात्मिक अनुभव (अवगति) ही है।[3] अनिश्चित अस्तित्व को ऊंचा उठाकर असीम महत्त्व तक पहुंचाया जा सकता है। 'शाश्वतता का प्रेम काल द्वारा उत्पन्न की गई वस्तुओं के साथ है।' 'परमात्मा स्वर्ग का स्वामी है, परंतु उसे भी लोभ पृथ्वी का ही है।'

परंतु 'परम' से इस प्रकार का वियोग, यह पार्थक्य और कष्ट तथा दुख में से होकर प्रायश्चित्त की ओर यह गति किसलिए होनी चाहिए? 'अहं' भाव को 'दिव्य' (ब्रह्म) के साथ एकता स्थापित करने की अपेक्षा अपना लक्ष्य आत्म-प्रकथन (जोर देकर कहना) को बनाना क्यों अधिक पसंद करना चाहिए? यह सब कष्ट और अज्ञान, यह सब टटोल और संघर्ष किसलिए है? अपूर्णता की ओर से पूर्णता की ओर यह गति किसलिए है? क्या यह किसी मनमौजी ब्रह्म की निरंकुश इच्छा है? हम यह नहीं कहते कि ब्रह्म संसार के परे है; वह संसार के पीछे भी है। वह संसार को अपनी एकता से संभाले हुए है और हमें इस द्वैध का सामना करने के लिए सहारा दे रहा है। यह ब्रह्मांड मानवीय स्वतंत्रता के प्रयोग द्वारा, जिसके साथ उसके सब परिणाम, संकट और कठिनाई, कष्ट और अपूर्णता, जुड़े हुए हैं, आध्यात्मिक एकता की महान संभावना को निरंतर प्रयत्न करके सत्य बना रहा है। एकदम अपरिष्कृत प्रारंभ से यह सारी कठिन चढ़ाई किसलिए है? शाश्वत से यह पृथकता, चिरस्थाई से यह द्वैध किसने उत्पन्न किया है? ब्रह्म ने यह विशिष्ट योजना किसलिए चलने दी है, इस बात को हम तभी समझ सकेंगे, जब हम सीमित बोध की रोक को पार कर जाएंगे और वस्तुओं को उस 'सर्वोच्च तादात्म्य' द्वारा देख सकेंगे, जो पार्थिव प्रक्रिया के पीछे निहित है। जहां हम हैं, वहां से तो हम केवल यही कह सकते हैं कि यह रहस्य (माया) है, या ब्रह्म की इच्छा है, या उसकी सृजनशील शक्ति की अभिव्यक्ति है। 'माया' का यह अभिप्राय नहीं है कि यह संसार एक निरर्थक भ्रम है, सिर्फ धुआं ही धुआं, जिसमें आग है ही नहीं। मानव-जीवन का लक्ष्य रेखा को पार करना है, अपर्याप्तता और अज्ञान से ऊपर उठकर पूर्णता और बुद्धिमत्ता तक पहुंचना है। यह है मोक्ष या अधिचेतना (सुपरकांशसनेस) के प्रकाश में मुक्ति। यह परम पुरुषार्थ है, जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य; और इस तक पहुंचने का साधन धर्म है। मोक्ष या मुक्ति को यहीं और अभी, इस पृथ्वी पर ही, मानवीय संबंधों द्वारा, प्राप्त करना है। यदि आध्यात्मिक विचारों को विजयी होना हो, तो वे केवल संस्थाओं में मूर्त होकर ही विजयी हो सकते हैं। वे गंभीर विधियां, जो किशोरावस्था की प्राप्ति को, विवाह के आशीर्वादों को और मृतकों की अंत्येष्टि को पवित्र बनाती हैं, सारतः पूजा की क्रियाएं हैं। इस दृश्य जगत की प्रत्येक वस्तु अदृश्य वास्तविकता की प्रकाशक बन सकती है। हम जितने भी कर्म करते हैं, वे सब ईश्वरोन्मुख जीवन के प्रति निर्देश के कारण पवित्र हो जाते हैं।

धर्म की धारणा

जिन सिद्धांतों का हमें अपने दैनिक जीवन में और सामाजिक संबंधों में पालन करना है, वे उस वस्तु द्वारा नियत किए गए हैं, जिसे धर्म कहा जाता है। यह सत्य का जीवन में मूर्त रूप है और हमारी प्रकृति को नए रूप में ढालने की शक्ति है।

जीवन के इतिहास में मानवीय मस्तिष्क एक नवीन सृष्टि है। इसमें अपने-आप को परिस्थितियों के अनुकूल ढाल लेने की एक विशिष्ट क्षमता है। इसके द्वारा मनुष्य अनुभव से और अपनी स्मृति में भरे पाठों के भंडार से सीख पाने में समर्थ होता है। मानवीय इतिहास और प्राकृतिक इतिहास में अंतर यह है कि इनमें से पहला फिर से शुरू नहीं हो सकता। निम्नतर प्राणियों की जातियां अपने वंश-परंपरा से प्राप्त उपस्कर (उपकरण, साधन) द्वारा ही या तो बची रहती हैं या समाप्त हो जाती हैं। वे सीख बहुत ही कम पाती हैं। कोहलर तथा अन्य विज्ञानवेत्ताओं ने यह बताया है कि चिंपांजी और ओरंग-उतान का मनुष्य से भेद बुद्धि के कारण नहीं, अपितु स्मृति-शक्ति के कारण है। पशु जो भी जीवन बिताते हैं, उसे भूलते जाते हैं और अनुभव से बहुत ही कम काम करते हैं। आज का बाघ ठीक वैसा ही है, जैसा अब से छह हजार वर्ष पूर्व का बाघ था। उनमें से प्रत्येक बाघ अपना जीवन ठीक इस प्रकार प्रारंभ से ही शुरू करता है, जैसे उससे पहले कभी कोई बाघ हुआ ही नहीं। परंतु मनुष्य अपने अतीत को याद रखता है और उसका उपयोग वर्तमान में करता है। नीट्शे का कथन है कि मनुष्य सबसे लंबी स्मृति-शक्ति वाला प्राणी है। वह स्मृति ही उसका एक अनोखा खजाना है, उसका वैशिष्ट्य-द्योतक चिह्न है, विशेषाधिकार है। उसके जीवन में सहज-प्रावृत्तिक प्रतिभावनों की पूर्ति अधिगत (प्राप्त की हुई) आदतों से होती रहती है। प्राकृतिक शीलों के ऊपर एक मानसिक ऊपरी ढांचा थोप दिया जाता है। मनुष्य एक ऐसा प्राणी है, जिसे सिखाया-पढ़ाया जा सकता है और जो समाज द्वारा नियंत्रित रहता है। हमारी वेश-भूषा, हमारा खान-पान और हमारा रहन-सहन सब सामाजिक उपजें हैं, जिन्हें हमने प्रशिक्षण द्वारा प्राप्त किया है। हमारी सहजवृत्तियां सुघट्य (जिसे किसी भी रूप में ढाला

जा सके) कच्चा माल हैं और हमारी संस्कृति खाका और पद्धति प्रस्तुत कर देती है। हम विवेक या सहजवृत्ति से चलने वाले कम और आदत से चलने वाले प्राणी अधिक हैं। हमारा आचरण मानवीय स्वभाव के मूल मनोवेगों का परिणाम नहीं, अपितु कृत्रिम मानसिक कारणों का परिणाम होता है। प्रथा की हमारे कार्यों को नियंत्रित और मर्यादित रखने की शक्ति सार्वभौम है। हमें अंधा बना देने की उसकी शक्ति इतनी अधिक है कि सहसा विश्वास नहीं होता। हम उन अन्यायों या क्रूरताओं को देखकर चकित रह जाते हैं, जिन्हें हम प्रमाणित करते हैं या जिनके साथ हम सहमत हो चुके होते हैं। यदि हमें जोरदार सुझाव दिए जाएं और उन्हें नैतिक बाना पहना दिया जाए, जिससे हममें सहमति की मनोवृत्ति उत्पन्न हो जाए, तो हमसे कुछ भी करवाया जा सकता है। दास-प्रथा, शिशु-हत्या, धर्म-परीक्षण-समितियां (धार्मिक क्रूर न्यायालय), जादूगरनियों को जीते-जी जलाना, सब-के-सब किसी समय मानवीय गौरव के लिए सम्माननीय माने जाते थे, जैसे कि युद्ध आज भी माने जाते हैं।

धर्म की धारणा के अंतर्गत हिंदू उन सब अनुष्ठानों और गतिविधियों को ले आता है, जो मानवीय जीवन को गढ़ती और बनाए रखती हैं। हमारे पृथक-पृथक हित होते हैं, विभिन्न इच्छाएं होती हैं और विरोधी आवश्यकताएं होती हैं, जो बढ़ती हैं और बढ़ने की दशा में ही परिवर्तित भी हो जाती हैं। उन सबको घेर-घारकर एक समूचे रूप में प्रस्तुत कर देना धर्म का प्रयोजन है। धर्म का सिद्धांत हमें आध्यात्मिक वास्तविकताओं को मान्यता देने के प्रति सजग करता है, संसार से विरक्त होने के द्वारा नहीं, अपितु इसके जीवन में, इसके व्यवसाय (अर्थ) और इसके आनंदों (काम) में आध्यात्मिक विश्वास की नियंत्रक शक्ति का प्रवेश कराने के द्वारा। जीवन एक है और इसमें पारलौकिक (पवित्र) और ऐहिक (सांसारिक) का कोई भेद नहीं है। भक्ति और मुक्ति एक-दूसरे की विरोधी नहीं हैं।[4] धर्म, अर्थ और काम साथ ही रहते हैं।[5] दैनिक जीवन के सामान्य व्यवसाय सच्चे अर्थों में भगवान की सेवा हैं। सामान्य कृत्य भी उतने ही प्रभावी हैं जितनी कि मुनियों की साधना। हिंदू तपस्या को बहुत ऊंचा नहीं बताता और न जीवन के सुखों के निष्प्रयोजन परित्याग की ही बहुत प्रशंसा करता है। शारीरिक कल्याण मानवीय कल्याण का अत्यावश्यक अंग है।[6] आनंद अच्छे जीवन का एक अंग है। आनंद इंद्रियग्राह्य भी है और आत्मिक भी। धूप का आनंद लेना, संगीत सुनना या कोई नाटक पढ़ना, इंद्रियग्राह्य और आत्मिक दोनों ही हैं। आनंद अपने-आप में कोई निंदनीय वस्तु नहीं है।

इसी प्रकार आर्थिक उपादान (साधन) भी मानव-जीवन का एक अत्यावश्यक तत्त्व है। संपत्ति में स्वतः कोई पाप नहीं है, ठीक वैसे ही जैसे गरीबी में स्वतः कोई पुण्य नहीं है। किसी व्यक्ति के अपनी संपत्ति को बढ़ाने के प्रयत्नों को बुरा नहीं कहा जा सकता; पर यदि किसी एक के संपत्ति जमा करने के प्रयत्नों से दूसरे लोगों को आर्थिक या नैतिक हानि पहुंचती है, तो अवश्य यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि क्या ऐसे उपायों से ऐसी संपत्ति एकत्र करना, जिसके परिणाम ऐसे हों, भला है या नहीं? हिंदू आचारशास्त्र (संहिता) का आग्रह है कि उद्देश्य वैयक्तिक लाभ न होकर समाज-सेवा होना चाहिए। जीवन के विभिन्न मूल्यों की साधना समान रूप से होनी चाहिए; एक को गंवाकर दूसरे की नहीं।[7] भवभूति हमें बताता है कि 'दर्शन का ज्ञान इसीलिए अच्छा माना जाता है, क्योंकि उससे सत्य का ठीक-ठीक निश्चय हो जाता है; संपत्ति की इच्छा केवल इसलिए की जाती है कि इससे सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक कर्तव्यों और जिम्मेदारियों को पूरा करने में सहायता मिलती है; और विवाह को इसलिए अच्छा माना जाता है कि वह उत्तम संतान उत्पन्न करने का साधन है।'[8] रघुवंश में कालिदास भी उन्हीं पुरुषों को आदर्श मानता है, 'जो संपत्ति का संचय दान करने के लिए करते थे, जो सत्यभाषी रहने के लिए थोड़ा बोलते थे, जो यश के लिए विजय करना चाहते थे, और जो संतान के लिए विवाह करते थे।'[9] हमसे अपेक्षा की जाती है कि हम धूल के प्रत्येक कण को मधुर बना डालें।[10] कला और संस्कृति, वाणिज्य और उद्योग में देश की उन्नति बहुत हो चुकी थी। दिल्ली के अशोक-स्तंभ में जिस इस्पात का उपयोग किया गया है, उसकी विशेषताएं आज भी संसार के इस्पात-उद्योगों के लिए आश्चर्य की वस्तु हैं। संपत्ति और आनंद धर्मपरायणता और पूर्णता के विरोधी नहीं हैं। यदि उनकी साधना केवल उनके अपने लिए की जाए, तो वे ठीक नहीं हैं; पर यदि उन्हें आत्म-कल्याण और सामाजिक हित के लिए स्वीकार किया जाए, तो वे अवश्य ही ग्रहण करने योग्य हैं।

धर्म शब्द अनेक अर्थों की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। यह 'धृ' धातु से (बनाए रखना, धारण करना, पुष्ट करना)[11] बना है। यही वह मानदंड है, जो विश्व को धारण करता है, किसी भी वस्तु का वह मूल तत्त्व, जिसके कारण वह वस्तु वह है। वेदों में इस शब्द का प्रयोग धार्मिक विधियों के अर्थ में किया गया है। 'छान्दोग्य उपनिषद्' में धर्म की तीन शाखाओं (स्कंधों) का उल्लेख किया गया है, जिनका संबंध

गृहस्थ, तपस्वी, ब्रह्मचारी के कर्तव्यों से है।[12] जब तैत्तिरीय उपनिषद् हमसे धर्म का आचरण[13] करने को कहता है, तब उसका अभिप्राय जीवन के उस सोपान के कर्तव्यों के पालन से होता है, जिसमें कि हम विद्यमान हैं। इस अर्थ में 'धर्म' शब्द का प्रयोग भगवद्गीता और मनुस्मृति, दोनों में हुआ है। एक बौद्ध के लिए धर्म बुद्ध और संघ, या समाज, के साथ-साथ 'त्रिरत्न' (तीन रत्न) में से एक है। पूर्वमीमांसा के अनुसार धर्म एक वांछनीय वस्तु है, जिसकी विशेषता है प्रेरणा देना।[14] वैशेषिक सूत्रों में धर्म की परिभाषा करते हुए कहा गया है कि जिससे आनंद (अभ्युदय) और परमानंद (निःश्रेयस) की प्राप्ति हो, वह धर्म है।[15] अपने प्रयोजन के लिए हम धर्म की परिभाषा इस प्रकार कर सकते हैं कि यह चारों वर्णों के और चारों आश्रमों के सदस्यों द्वारा जीवन के चार प्रयोजनों (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) के संबंध में पालन करने योग्य मनुष्य का समूचा कर्तव्य है। जहां सामाजिक व्यवस्था का सर्वोच्च लक्ष्य यह है कि मनुष्यों को आध्यात्मिक पूर्णता और पवित्रता की स्थिति तक पहुंचने के लिए प्रशिक्षण दिया जाए, वहां इसका एक अत्यावश्यक लक्ष्य, इसके सांसारिक लक्ष्यों के कारण, इस प्रकार की सामाजिक दशाओं का विकास करना भी है, जिनमें जन-समुदाय नैतिक, भौतिक और बौद्धिक जीवन के ऐसे स्तर तक पहुंच सके, जो सबकी भलाई और शांति के अनुकूल हो; क्योंकि ये दशाएं प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन और अपनी स्वतंत्रता को अधिकाधिक वास्तविक बनाने में सहायता देती हैं।

धर्म का मूल सिद्धांत है मानवीय आत्मा के गौरव को प्राप्त करना, जो भगवान का निवास स्थान है। 'सब धर्मों का सर्वस्वीकृत मूल सिद्धांत यह ज्ञान ही है कि परमात्मा प्रत्येक जीवित प्राणी के हृदय में निवास करता है।'[16] 'समझ लो कि धर्म का सार यही है और फिर इसके अनुसार आचरण करो; दूसरों के प्रति वैसा व्यवहार मत करो, जैसा, तुम नहीं चाहते कि कोई तुम्हारे साथ करे।'[17] 'हमें दूसरों के प्रति ऐसा कुछ नहीं करना चाहिए, जो यदि हमारे प्रति किया जाए, तो हमें अप्रिय लगे। यही धर्म का सार है; शेष सारा बर्ताव तो स्वार्थपूर्ण इच्छाओं से प्रेरित होता है।'[18] हमें दूसरों को अपने जैसा ही समझना चाहिए। 'जो अपने मन, वचन और कर्म से निरंतर दूसरों के कल्याण में लगा रहता है और जो सदा दूसरों का मित्र रहता है, ओ जाजलि, वह धर्म को ठीक-ठीक समझता है।'[19] सब प्राणियों के प्रति मन, वचन और कर्म द्वारा अ-द्वेष, सद्भावना और दान—इन्हें सबके लिए आवश्यक गुण[20] बताया गया है। स्वतंत्रता या मुक्ति अनुशासन द्वारा ही होती है।[21] दूसरे शब्दों में, हमारे सामाजिक जीवन को इस ढंग से चलाया जाना चाहिए, जिससे उसके प्रत्येक सदस्य का एक व्यक्ति के रूप में जीने का, काम करने का और जीवन में उन्नति करने का अधिकार प्रभावी रूप से स्वीकार कर लिया जाए। यह पवित्र की गई गतिविधि है। व्यक्ति के जीवन का सार उसे सामाजिक अनुष्ठानों से परे ले जाता है, हालांकि उसे उन अनुष्ठानों की भी आवश्यकता है। सामाजिक जीवन हमारी भवितव्यता में एक गति है, अंतिम छोर नहीं। इसकी दशा सदा तनाव और गति की ही रहती है। एक इस प्रकार का अविराम प्रयत्न चलता रहता है कि किन्हीं भी दी हुई दशाओं के संबंध में अस्तित्व के सामान्य स्तर को जितना संभव हो, अधिक-से-अधिक ऊंचा उठाया जाए। हिंदू धर्म हमारे सम्मुख नियमों और विनियमों का एक कार्यक्रम प्रस्तुत करता है और यह अनुमति देता है कि उनमें निरंतर परिवर्तन किया जा सकता है। धर्म के नियम अमर विचारों के मरणशील शरीर की भांति हैं, और इसलिए उनमें परिवर्तन किए जा सकते हैं। ❖

संदर्भ

1. 'मोक्षाय ते संसारः'
2. उपभोगैरपि त्यक्तं नात्मानं सादयेन्नरः
   चाण्डालत्वेपि मानुष्यं सर्वथा तात शोभनम्।
3. भगवद्गीता के अध्याय 9, श्लोक 10 का भाष्य करते हुए वह लिखता है :
   'जगतः सर्वा प्रवृत्तिः...अवगतिनिष्ठा, अवगत्यवसानैव।'
4. तुलना कीजिए : महापरिनिर्वाण तन्त्र
   श्रुतं बहुविधं धर्मं इहामुत्र सुखप्रदम्,
   धर्मार्थिकामदं विघ्नहरं निर्वाणकारणम्।
5. इस प्रश्न का कि
   धर्मश्चार्थश्च कामश्च परस्परविरोधिनः
   एषां नित्यविरुद्धानां कथमेकत्र सङ्गमः;
   यह उत्तर दिया गया है,
   यदा धर्मश्च भार्या च परस्परवशानुगौ
   तदा धर्मार्थकामानां त्रयाणामपि सङ्गमः।
6. शरीरं धर्मसर्वस्वं रक्षणीयं प्रयत्नतः।
7. धर्मार्थकामः समं एव सेव्यः।
   यो हि एकासक्तः स जनो जघन्यः।
8. ते श्रोत्रियास्तत्त्व विनिश्चयाय भूरिश्रुतं शाश्वतमाद्रियन्ते
   इष्टाय पर्ताय च कर्मणेर्थान् दारानपत्या य तपोर्थमायुः।
   —मालतीमाधव 1.5
9. त्यागाय संभृतार्थानां सत्याय मितभाषिणाम्
   यशसे विजिगीषूणां प्रजायै गृहमेधिनाम्।—1-7

10. मधुमत् पार्थिवं रजः।
11. तुलना कीजिए : धारणात् धर्ममित्याहुः धर्मेण विधृताः प्रजाः।
12. त्रयो धर्मस्कन्धाः।—2-23
13. धर्मं चर।—1.11
14. चोदनालक्षणार्थो धर्मः।
15. यतोभ्युदयनिश्रेयससिद्धिः स धर्मः।
16. भगवान् वासुदेवो हि सर्वभूतेष्ववस्थितः
एतज्ज्ञानं हि सर्वस्य मूलं धर्मस्य शाश्वतम्।
17. श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्,
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।
तुलना कीजिए : आपस्तम्ब; आत्मवत् सर्वभूतानि यः पश्यति स पश्यति।
18. न तत् परस्य समादध्यात् प्रतिकूलं यदात्मनः,
एष सामासिको धर्मः कामादन्यः प्रवर्तते।
19. सर्वेषां यः सुहृन्नित्यं सर्वेषां च हिते रतः,
कर्मणा मनसा वाचा, स धर्मं वेद जाजले।
—शान्तिपर्व 261-9

साथ ही तुलना कीजिए,
सर्वशास्त्रमयी गीता सर्ववेदमयो हरिः,
सर्वतीर्थमयी गंगा सर्वधर्ममयी दया।
20. अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा,
अनुग्रहश्च दानं च सतां धर्मः सनातनः।
21. वेदस्योपनिषद् सत्यं, सत्यस्योपनिषद् दमः,
दमस्योपनिषन्मोक्षः, एतत् सर्वानुशासनम्।
साथ ही तुलना कीजिए,
नाहं शप्तः प्रतिशपामि किञ्चित् दमं द्वारं ह्यमृतस्येह वेद्मि,
गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि न मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्।

❖❖

फार्म-4 (नियम 8 देखिए)

1.	प्रकाशन स्थान	:	गंगाशहर, बीकानेर
2.	प्रकाशन अवधि	:	मासिक
3.	मुद्रक का नाम	:	दीपचन्द सांखला
	क्या भारतीय नागरिक है	:	हां
	पता	:	सांखला प्रिण्टर्स, सुगन निवास, चन्दनसागर, बीकानेर
4.	प्रकाशक का नाम	:	भंवरलाल सिंघी
	क्या भारतीय नागरिक है	:	हां
	पता	:	जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा शाखा कार्यालय तेरापंथी भवन, गंगाशहर 334401 (बीकानेर) राजस्थान
5.	संपादक का नाम	:	शुभू पटवा
	क्या भारतीय नागरिक है	:	हां
	पता	:	भीनासर, बीकानेर
6.	उन व्यक्तियों के नाम व पते जो समाचार पत्रों के स्वामी हों तथा जो समस्त पत्रों के एक प्रतिशत से अधिक के साझेदार या हिस्सेदार हों।	:	जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता-1

मैं भंवरलाल सिंघी एतद्द्वारा घोषित करता हूं कि मेरी अधिकतम जानकारी एवं विश्वास के अनुसार ऊपर दिए गए विवरण सत्य हैं।

भंवरलाल सिंघी
प्रकाशक के हस्ताक्षर

विचारों का व्यावसायिक उत्पादन

राजकिशोर

आधुनिक जगत में सिर्फ वस्तुओं का ही नहीं, विचारों का उत्पादन भी काफी बढ़ा है। वैसे तो वस्तु भी एक विचार ही है। खादी के बारे में यह उक्ति मशहूर है कि यह वस्त्र नहीं, विचार है। इससे आशय यह है कि जो खादी का पक्ष लेता है, वह एक ऐसी विकेंद्रित अर्थ-व्यवस्था का समर्थक है, जिसमें लोगों की आवश्यकताएं कम और सीधी-सादी होंगी तथा उनमें से ज्यादातर की पूर्ति स्थानीय स्तर पर ही की जा सकेगी। लेकिन इसी तर्क से कारखाने का बना हुआ कपड़ा भी एक विचार है जो उत्पादन की औद्योगिक व्यवस्था का समर्थक है। आवश्यकता से इच्छा की यात्रा को प्रकृति से सभ्यता की यात्रा कहा जा सकता है। लेकिन आधुनिक विश्व में विविध प्रकार की वस्तुओं के माध्यम से इच्छाओं का जो विस्फोट देखने में आ रहा है, वह सभ्यता में कितनी वृद्धि कर रहा है, यह विवादास्पद है। पहले वस्तुएं मनुष्य की जरूरतों को पूरा करने के लिए और उसका जीवन आसान करने के लिए पैदा की जाती थीं। लेकिन आज ऐसा नहीं है। आज चीजें बड़े-बड़े औद्योगिक निगमों द्वारा अपना मुनाफा बढ़ाने के लिए पैदा की जाती हैं। इस प्रक्रिया में रोज नई-नई आवश्यकताओं की सृष्टि की जाती है। कभी-कभी इनमें दिलचस्प अंतर्विरोध दिखाई देता है। एक ओर मानव-श्रम बचाने के लिए नई-नई वस्तुएं बाजार में लाई जाती हैं और दूसरी ओर, चूंकि शारीरिक श्रम करना स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है, ऐसे यंत्रों का आविष्कार किया जाता है जिनकी सहायता से लोग घर में या व्यायामशाला में अपने शरीर को चुस्त-दुरुस्त बना सकें। ऐसी टेक्नोलॉजी, जो एक साथ दोनों काम करे यानी जीवन को आरामदेह बनाए और शारीरिक श्रम के अवसर भी जुटाए, उद्योगवाद के विस्तार में बाधक है। यह सभ्यता पहले रोग देती है, फिर उसका इलाज ढूंढ़ती है। दोनों में पैसा है।

'विचारों का व्यावसायिक उत्पादन एक विचार विरोधी कर्म है। विचार दुनिया को समझने के लिए और उसे बदलने के लिए होते हैं। लेकिन विचारों का व्यावसायिक उत्पादन पैसा कमाने के लिए होता है। बाजार में वस्तुओं की तरह विचार भी बेचे और खरीदे जाते हैं। 'कॉपीराइट' का कानून सृजन को बौद्धिक संपदा में बदलने का औजार है। दुनिया को बेहतर बनाने वाला विचारक चाहता है कि उसके विचार ज्यादा-से-ज्यादा लोगों तक पहुंचें और ज्यादा-से-ज्यादा भाषाओं में प्रकाशित हों। 'कॉपीराइट' वाला लेखक इसके लिए पैसा मांगता है। आधुनिक व्यवस्था 'मुफ्त भोजन' के विरुद्ध है। तो फिर मुफ्त विचार कैसे मिल सकते हैं?'

वस्तुओं के उत्पादन का यही तर्क विचारों के उत्पादन पर भी लागू होता है। विचार निर्माण की प्रक्रिया दुनिया में हमेशा बनी रही है। साथ ही, विचारकों का एक विशिष्ट वर्ग भी अस्तित्व में रहा है। इससे दो बातों का पता चलता है। मनुष्य अपनी स्थिति से कभी संतुष्ट नहीं होता। वह अपने जीवन पर और अपनी व्यवस्था पर लगातार विचार-पुनर्विचार करता रहता है। यही कारण है कि जब संचार और संप्रेषण के साधन बहुत अविकसित अवस्था में थे, तब भी बड़े-बड़े धर्मों का जन्म हुआ और वे अपने उद्भव स्थल से निकलकर दूर-दूर तक गए। दूसरी बात यह है कि विचार करना एक विशिष्ट वर्ग का काम था। आम लोगों के मन में भी विचार पैदा होते हैं, पर उनकी अभिव्यक्ति के लिए उचित मंच नहीं थे। दार्शनिकों, विचारकों,

धर्मगुरुओं और लेखकों-कवियों का काम विचार करना था। बहस भी मुख्यतः इन्हीं के बीच सीमित रहा करती थी। इस दृष्टि से कह सकते हैं कि विचारों का उत्पादन हमेशा से व्यावसायिक स्तर पर ही होता रहा है। इसका ठोस कारण है। विचार करना खाना बनाने या कपड़ा रंगाने की तरह, एक विशेषीकृत काम है। अतएव विचार करने का काम वे ही लोग कर सकते हैं जिन्होंने इस दिशा में कुछ तैयारी की हो। खग की भाषा बोलने के लिए पहले उसे श्रमपूर्वक सीखना पड़ता है।

भारत इस दृष्टि से एक अद्‌भुत देश है कि उसने विचार उत्पादन का काम एक खास जाति तक सीमित कर दिया। ब्राह्मण ही विचार को धारण करता था और विचार संपदा में वृद्धि करता था। इसका भारत में विचार उत्पादन की प्रक्रिया पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। विचारों का विकास अवरुद्ध हो गया। यह अकारण नहीं है कि वैदिक धर्म से विद्रोह करने वाले दो महान धर्मों—जैन धर्म और बौद्ध धर्म के प्रवर्तक क्षत्रिय थे। उन्होंने ब्राह्मणों के वर्चस्व पर कठोर प्रहार किए। बाद में दूसरी जातियों में भी विचारक पैदा हुए। कबीर ऐसे ही विचारक थे। लेकिन दूसरे विचारकों और कबीर में फर्क यह था कि जहां विचार करने के लिए उनके पास भौतिक सुख-सुविधाएं मौजूद थीं, वहीं कबीर को जीवन यापन के लिए श्रम भी करना पड़ता था। वस्तुतः परंपरागत विचारक, जो यथास्थिति का ही विस्तार करता है, और नए ढंग के विचारक में, जो यथास्थिति को तोड़ता है, यही फर्क है। एक के लिए समाज में जगह पहले से बनी रहती है, दूसरे को अपनी जगह बनाने के लिए संघर्ष करना पड़ता है। कबीर को भी ऐसा ही संघर्ष करना पड़ा था। लेकिन जिन लोगों ने कबीर पंथ बनाया और उस पर कब्जा कर लिया, वे स्वयं यथास्थिति के समर्थक बन गए। स्पष्ट है कि नएपन की धारा भी कुछ समय के बाद सूखने लगती है। यह मानव स्वभाव का ही अंग है—वह कुछ नया चाहता है, तो जो मिला हुआ है, उसकी सुरक्षा को भी छोड़ना नहीं चाहता। विचारों का व्यावसायिक उत्पादन स्थिरता का सबसे बड़ा पोषक है।

आधुनिक युग में विचारों के व्यावसायिक उत्पादन के तीन प्रमुख स्रोत दिखाई पड़ते हैं : (1) विश्वविद्यालय, (2) जनसंचार माध्यम और (3) प्रकाशन उद्योग। गुरुकुल और विश्वविद्यालय शुरू से ही विचारों की जन्मस्थली रहे हैं। लेकिन सभी ऋषि ग्रंथ नहीं लिखते थे और न ही सभी शिक्षक पुस्तकों का प्रणयन करते थे। यह काम कोई-कोई करता था और उसके काम की चर्चा काफी समय तक होती थी। आज स्थिति बदल गई है। अब विश्वविद्यालयों के शिक्षकों से अपेक्षा की जाती है कि वे शोध करेंगे और पुस्तकें लिखेंगे। जो 'पब्लिश' नहीं करता (अपनी किताबें प्रकाशित नहीं करता), वह 'पेरिश' (बरबाद) होने को बाध्य है। फलस्वरूप विश्वविद्यालयी क्षेत्र से हर साल भारी मात्रा में वैचारिक कूड़ा आता रहता है। पश्चिमी देशों में बड़े-बड़े ट्रस्ट और फाउंडेशन हैं, जो इस कूड़ा उत्पादन के लिए आवश्यक वित्त का प्रबंध करते हैं। विश्वविद्यालयी शोध और विद्वत्ता की व्यर्थता से सभी परिचित हैं। फिर इसे क्यों प्रोत्साहित किया जाता है? इसके पीछे मुख्य कारण पश्चिमी सभ्यता की यह मनोवैज्ञानिक जरूरत प्रतीत होता है कि हमारे यहां सिर्फ खाने-पीने और मनोरंजन करने वाले तथा मनोरंजित होने वाले लोग नहीं हैं, बल्कि विद्वान भी हैं। विद्वान होना सिर्फ व्यक्ति का 'स्टेटस सिंबल' (हैसियत का प्रतीक) नहीं है; समाज को भी अपनी आत्म-छवि सुधारने के लिए विद्वान चाहिए। विश्वविद्यालयों में पैदा होने वाले विचारों के साथ अच्छाई यह है कि उनका बोझ साधारण जनता को नहीं सहना पड़ता। वे विश्वविद्यालयों से निकल-कर विश्वविद्यालयों में ही दफन हो जाते हैं।

लेकिन जनसंचार माध्यमों के साथ ऐसी बात नहीं है। वे सर्वसाधारण के लिए ही होते हैं। चूंकि ज्यादातर पत्र-पत्रिकाएं किसी सामाजिक लक्ष्य को ले कर नहीं निकाली जातीं—उनका उद्देश्य व्यावसायिक होता है, इसलिए उनमें प्रकाशित होने वाले विचार भी व्यावसायिक की कोटि में ही आते हैं। अखबार रोज निकलते हैं और उनमें विचारों के लिए इफरात में जगह होती है। कुछ विचार संपादकीय परिवार की ओर से आते हैं और बहुत-से विचार दूसरों के होते हैं। ये दूसरे अक्सर किसी क्षेत्र के विशेषज्ञ नहीं होते, न ही इनका उद्देश्य देश या दुनिया को बेहतर बनाना होता है। ये लिखने के लिए लिखते हैं और समाचार पत्र इनके विचारों को छापने के लिए छापते हैं। यही कारण है कि समाचार पत्रों के पन्नों तक उन विचारकों की पहुंच बहुत सीमित होती है जो कुछ मौलिक या नया सोचते हैं। उदाहरण के लिए लंदन के टाइम्स ने जर्मेन गियर को लिखने के लिए आमंत्रित किया पर उनके तीन लेख ही छप पाए—चौथा लेख नहीं छप पाया। इसी तरह, रेडियो और टीवी पर विचारों की अनवरत झड़ी लगी रहती है, जिनमें से ज्यादातर के बिना दुनिया का काम बड़ी आसानी से चल सकता है।

यही बात प्रकाशन उद्योग के बारे में भी कही जा सकती है। पुस्तक प्रकाशन ने ज्ञान की दुनिया का लोकतंत्रीकरण करने में बहुत ही महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। यूरोप में पुनर्जागरण की शुरूआत ही इस मांग से हुई थी कि बाइबिल का अनुवाद स्थानीय भाषा में उपलब्ध कराया जाए। भारत में ज्ञान पर ब्राह्मणों का वर्चस्व इस घटना से ही टूटा कि किताबें छपने लगीं, जिन्हें हर कोई खरीद और पढ़ सकता था। आज एक शूद्र भी वेदपाठी हो सकता है। लेकिन पुस्तक प्रकाशन सिर्फ एक लोकतांत्रिक घटना नहीं रहा— वह एक उद्योग में तब्दील हो चुका है। वस्तुओं के उद्योग की तरह विचारों के उद्योग को भी लगातार माल पैदा करना पड़ता है। इसीलिए हर साल लाखों किताबें छापी जाती हैं। यह विचारों के व्यावसायिक उत्पादन के बिना संभव नहीं है। कुछ लोग विचारों का उत्पादन करते हैं और बाकी लोग उनका उपभोग। चूंकि यह अधिकतर एक यांत्रिक प्रक्रिया होती है, इसलिए मौलिक किताबों का भी ज्यादा असर नहीं हो पाता। बाजार का दबाव आज के साहित्य पर स्पष्ट दिखाई पड़ता है, जबकि साहित्य का मूल स्वभाव बाजार-विरोधी है। हर लेखक 'बेस्ट सेलर' लिखने के लिए तड़पता रहता है। लेखक का महत्त्व इस बात से तय होता है कि उसे कितनी 'रायल्टी' मिलती है या किस किताब के लिए उसे कितना 'एडवांस' मिला।

विचारों का व्यावसायिक उत्पादन एक विचार विरोधी कर्म है। विचार दुनिया को समझने के लिए और उसे बदलने के लिए होते हैं। लेकिन विचारों का व्यावसायिक उत्पादन पैसा कमाने के लिए होता है। बाजार में वस्तुओं की तरह विचार भी बेचे और खरीदे जाते हैं। 'कॉपीराइट' का कानून सृजन को बौद्धिक संपदा में बदलने का औजार है। दुनिया को बेहतर बनाने वाला विचारक चाहता है कि उसके विचार ज्यादा-से-ज्यादा लोगों तक पहुंचें और ज्यादा-से-ज्यादा भाषाओं में प्रकाशित हों। 'कॉपीराइट' वाला लेखक इसके लिए पैसा मांगता है। आधुनिक व्यवस्था 'मुफ्त भोजन' के विरुद्ध है। तो फिर मुफ्त विचार कैसे मिल सकते हैं? विचारों का उत्पादन विकास के लिए आवश्यक है, लेकिन विचारों का व्यावसायिक उत्पादन विकास को अवरुद्ध करता है। विचारों के व्यावसायिक उत्पादन का सबसे विध्वंसक पहलू यह है कि विचार संदिग्ध और निरर्थक होते जाते हैं। लेकिन आधुनिक जीवन को शायद यही चाहिए, क्योंकि उसके केंद्र में तर्क नहीं, इच्छाएं हैं।

❖

हमारे विद्यार्थियों को भी समझना चाहिए कि उनको अपने राष्ट्र को सबल बनाना है तथा एक नूतन समाज का निर्माण करना है। समाज के वही नेता और निर्माता होंगे। किंतु आत्मसंयम के बिना कोई भी व्यक्ति किसी जिम्मेदारी के काम को निभा नहीं सकता। शिक्षाकाल का उनको अच्छे-से-अच्छा उपयोग करना चाहिए, चरित्रगठन और शरीर-संपत्ति के साथ-साथ अपने देश की वर्तमान समस्याओं का अध्ययन करना चाहिए तथा जनता के निकट संपर्क में आना चाहिए। आज की समस्याएं नवीन हैं और जनता की अभिलाषाओं और आवश्यकताओं को जाने बिना कोई भी कुशल शासक नहीं हो सकता। राष्ट्र के उत्थान के लिए विपुल संख्या में विद्याचरण-संपन्न स्त्री-पुरुष चाहिएं जो विविध कार्यों में निपुण हों और जिन्होंने सेवा का व्रत लिया हो।

—आचार्य नरेन्द्रदेव

अनुभूति

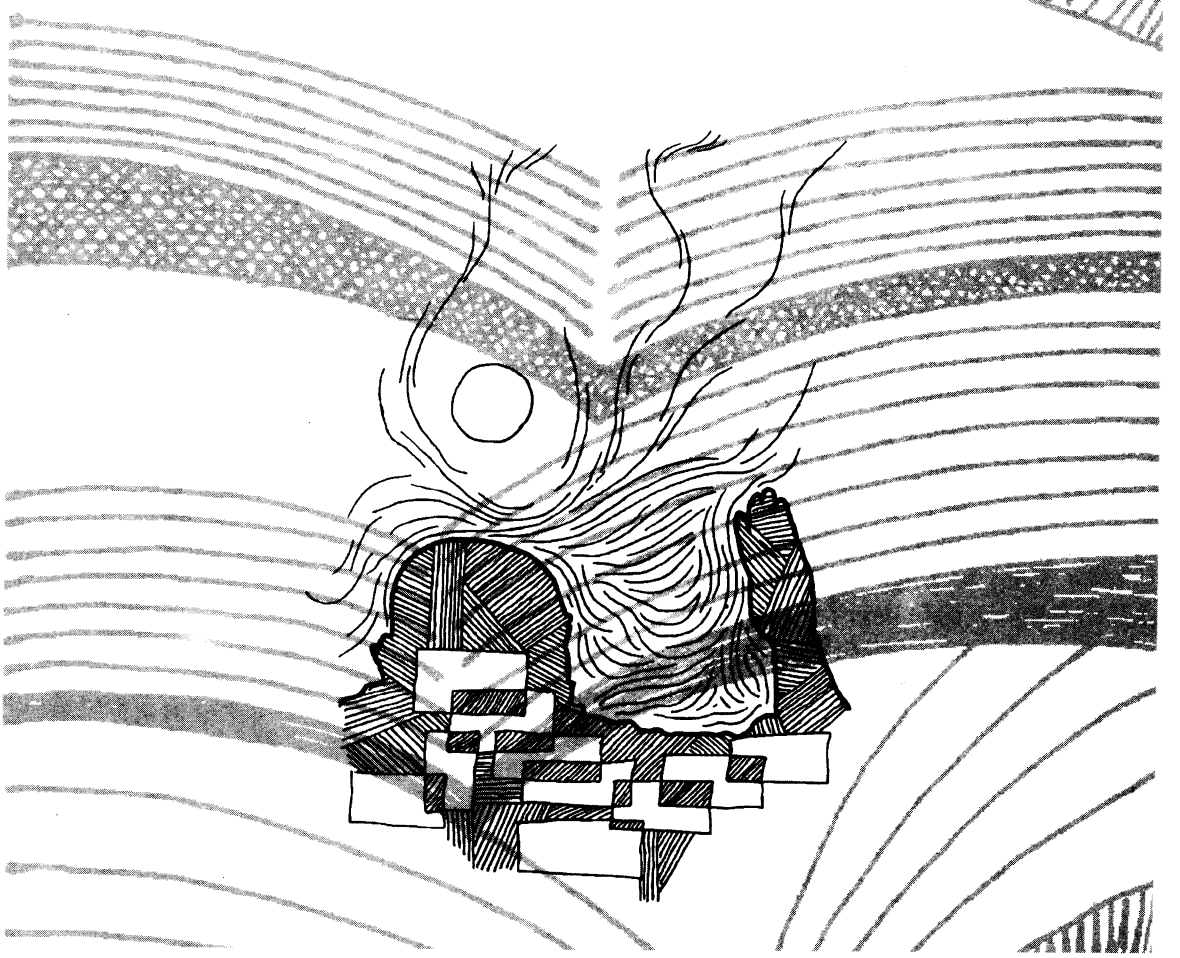

जितनी समझ तुमसे अब तक पाई है कनु,
उतनी बटोरकर भी
जितना-कुछ है जिसका
कोई भी अर्थ मुझे समझ नहीं आता है
अर्जुन की तरह कभी
मुझे भी समझा दो
सार्थकता है क्या बंधु?
मान लो कि मेरी तन्मयता के गहरे क्षण
रंगे हुए, अर्थहीन, आकर्षक शब्द थे—तो
सार्थक फिर क्या है कनु?

—धर्मवीर भारती

व्यक्ति और समाज

मुनि धनंजयकुमार

व्यक्ति समाज के लिए है और समाज व्यक्ति के लिए। व्यक्तियों के बिना समाज नहीं बनता और समाज के बिना व्यक्ति नहीं पनपता। समाज-निरपेक्ष व्यक्ति और व्यक्ति-निरपेक्ष समाज ऐसा सपना है, जो कभी सच नहीं हो पाता। व्यक्ति को समाज का सहयोग चाहिए और समाज को व्यक्ति का। व्यक्ति की आवश्यकताएं समाज पूरी करता है और समाज की आवश्यकताएं व्यक्ति। समाज और व्यक्ति के बीच एक ऐसा संबंध-सूत्र है, जो दोनों को ऊर्जा प्रदान करता है, शक्ति और सामर्थ्य देता है, स्वास्थ्य और संबल देता है। जब इस संबंध-सूत्र की विस्मृति होती है—व्यक्ति और समाज—दोनों समस्या से घिर जाते हैं।

व्यक्ति अकेला होता तो समस्या नहीं होती। वह अकेला नहीं है। इसलिए स्वाभाविक है कि उनके अपने-अपने विचार हों, अपने-अपने स्वार्थ हों। एक विचार, दूसरे विचार से टकराता है। एक व्यक्ति का स्वार्थ, दूसरे व्यक्ति के स्वार्थ में बाधक बनता है। विचारों का यह टकराव और स्वार्थों का संघर्ष सामाजिक चेतना को आघात पहुंचाता है। समाज रुग्ण बन जाता है, उसका बल क्षीण हो जाता है। समाज स्वस्थ और शक्तिशाली तब बनता है जब व्यक्ति दूसरे के विचारों को सहे, दूसरे के स्वार्थ में बाधक न बने।

समाज और देश की प्रगति का रहस्य है—अहं और स्वार्थ का परिष्कार। सामुदायिक व्यवस्था का प्राण-तत्त्व है वैयक्तिक स्वार्थों का समर्पण। जब व्यक्ति अपने स्वार्थ का किसी सीमा तक विसर्जन करता है तभी वह दूसरे के लिए उपयोगी बनता है। व्यक्ति और समाज के मध्य जो संबंध सूत्र हैं, उनमें ही छिपा है व्यक्ति और समाज की प्रगति, शक्ति और सफलता का रहस्य; और जो व्यक्ति इस रहस्य को समझ लेता है वह स्वयं महान बन जाता है, उसका समाज महान बन जाता है, उसका देश महान बन जाता है और उस महानता का स्रोत बनता है व्यक्ति।

औचित्य का सम्मान

सामाजिक स्वास्थ्य बना रहे, समाज की शक्ति अक्षुण्ण रहे, इसलिए समाज के प्रमुख व्यक्तियों ने मिलकर कुछ नियम बनाए, एक व्यवस्था बनी। उस व्यवस्था का निर्माता भी व्यक्ति है और अनुपालक भी व्यक्ति है। जब-जब व्यक्ति अपने द्वारा अपने लिए कृत नियम का उल्लंघन करता है, तब-तब सामुदायिक व्यवस्था का अतिक्रमण होता है, समाज-चेतना का ह्रास होता है। व्यक्ति जिसके अनुरूप ढल जाए—वही सामुदायिक व्यवस्था श्रेष्ठ होती है। व्यवस्था का निर्देश/संकेत कुछ होता है और व्यक्ति की इच्छा-आकांक्षा कुछ और होती है—यही समस्या है। व्यक्ति की इच्छा प्रबल बन जाए तो व्यवस्था गौण हो जाती है। व्यवस्था की मुख्यता या श्रेष्ठता इच्छा-आकांक्षा और स्वार्थ के सीमाकरण में निहित है। जहां व्यक्ति केवल अपनी बात सोचता है, दूसरे की बात नहीं सोचता, अपना स्वार्थ देखता है, दूसरे के स्वार्थ से आंख मूंद लेता है, अपनी इच्छा या आकांक्षा को ही सब-कुछ मानता है, दूसरे की इच्छा या आकांक्षा को व्यर्थ मानता है—वहां सामुदायिक व्यवस्था के नियम अप्रभावी बन जाते हैं। व्यक्ति अपनी बात को ही मूल्य न दे, दूसरे की बात को भी मूल्य दे, केवल अपना स्वार्थ ही न देखे, दूसरे के स्वार्थ को पूरा होने का अवसर भी दे। अपनी इच्छा-आकांक्षा का ही नहीं, दूसरे की इच्छा-आकांक्षा का औचित्य भी स्वीकार करे। जहां औचित्य का सम्मान

होता है, वहां सामुदायिक व्यवस्था सम्यक् होती है। अन्यथा मनुष्य का स्वार्थ उसकी धज्जियां उड़ा देता है।

स्वार्थ-वृत्ति का दर्शन

स्वार्थ की वृत्ति मनुष्य को कहां तक ले जाती है, यह कहा नहीं जा सकता। आचार्य भिक्षु ने स्वार्थ का एक मार्मिक दृष्टांत प्रस्तुत किया है। वह मनुष्य की स्वार्थ-वृत्ति पर करारा व्यंग्य है। एक व्यक्ति ने चार याचकों को एक गाय दान में दी। याचक चार और गाय एक। प्रश्न आया—गाय का दूध कौन ले? चारों ने मिलकर समाधान किया—पहले दिन एक व्यक्ति गाय का दूध दुह ले। दूसरे दिन दूसरा और तीसरे दिन तीसरा...। क्रम निश्चित हो गया। पहले दिन एक व्यक्ति ने गाय को दुहा, पर उसने गाय को घास नहीं डाली। उसने सोचा—कल जिसका क्रम है, वह अपने-आप चारा डालेगा। मैं एक दिन न डालूं तो क्या फर्क पड़ेगा? अगले दिन गाय दूसरे याचक के पास चली गई। उसने दूध दुहा पर घास नहीं खिलाई। उसके मन में भी यही विकल्प उभरा—मैं घास क्यों डालूं? क्या मैं अकेला दूध दुहता हूं? जिसने कल दूध निकाला है, उसने घास खिलाई होगी और कल जो निकालेगा, वह घास-चारा खिला देगा। चारों याचकों के मन में यही भावना संक्रांत हो गई। भूख से तड़पती गाय आखिर कब तक दूध देती? कुछ ही दिनों में वह तड़पकर मर गई।

यह मनुष्य की स्वार्थ-वृत्ति का परिणाम था। चारों याचकों ने गाय का दोहन तो किया पर घास किसी ने नहीं डाली। इस दृष्टांत को समाज और व्यक्ति के संदर्भ में इस रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है—समाज एक गाय है, यदि व्यक्ति उसे निरंतर पोषण देता रहेगा तो वह दूध देती रहेगी। पोषण बंद हो जाएगा तो वह कब तक दूध दे पाएगी? 'व्यक्ति अपने स्वार्थ के लिए समाज रूपी गाय को दुहता है, पर वह उसे घास या चारा डालना नहीं चाहता, उसको पुष्ट और समृद्ध बनाना नहीं चाहता। इसका परिणाम होता है—गाय दूध देना बंद कर देती है, भूख से तड़प-तड़प कर मर जाती है—समाज शक्तिहीन होकर जर्जर बन जाता है, अपनी अस्मिता खो देता है। लेकिन इससे व्यक्ति को नुकसान भी कम नहीं होता। वह भी दूध से सदा के लिए वंचित हो जाता है।' व्यक्ति अपने स्वार्थ की पूर्ति चाहता है, समाज का स्वास्थ्य नहीं। उचित स्वार्थ की पूर्ति और समाज के स्वास्थ्य में कोई अंतर्विरोध नहीं है, पर मनुष्य इस सचाई को समझ नहीं पा रहा है। यदि वह यह सचाई जान ले तो वैयक्तिक स्वार्थ सामुदायिक जीवन और सामुदायिक व्यवस्था के लिए कभी सिरदर्द नहीं बनेगा।

उदात्त

वैयक्तिक स्वार्थ तब प्रबल होते हैं, जब व्यक्ति में ममत्व की बुद्धि जागती है। जब वह किसी चीज को अपना मान लेता है, दूसरे की उपेक्षा कर अपना बनाने की ठान लेता है—तब स्वार्थ को पोषण मिलता है। वह उसकी प्राप्ति के लिए दूसरों के हितों की भी उपेक्षा कर देता है। अमुक चीज मुझे मिलनी चाहिए, चाहे वह कैसे भी मिले, चाहे उसका परिणाम मेरे लिए अथवा समाज के लिए कुछ भी हो, यह भावना स्वार्थ को विकृत बनाती है।

इस स्वार्थ के व्यामोह में फंसा व्यक्ति हित-अहित का आकलन नहीं करता, औचित्य-अनौचित्य पर भी ध्यान नहीं देता। उसकी यही वृत्ति सामुदायिक व्यवस्था को छिन्न-भिन्न कर देती है। समाज और राष्ट्र की समस्या को गहरा देती है। यदि इस स्वार्थ वृत्ति का उदात्तीकरण हो जाए तो समाज और राष्ट्र की समस्याओं को समाधान की दिशा मिल जाए। यदि व्यक्ति यह सोचने लग जाए—मैं जो-कुछ कर रहा हूं, वह केवल मेरे अकेले के वश की बात नहीं है। उसकी निष्पत्ति में अनेक व्यक्तियों का सहयोग और सद्भाव जुड़ा हुआ है तो उसका स्वार्थ असीम नहीं बन सकता। समाज के सहयोग की अनुभूति व्यक्ति के स्वार्थ पर एक अंकुश बनती है।

'हम' की चेतना जागे

मनुष्य 'मैं' को छोड़ना नहीं चाहता, 'हम' को अपना नहीं पाता। यही वृत्ति स्वार्थ को प्रबल बनाती है, परार्थ और परमार्थ की भावना मंद करती है। जहां केवल स्वार्थ ही प्रधान होता है, परार्थ और परमार्थ गौण होता है, वहां संतुलित समाज और राष्ट्र की कल्पना नहीं की जा सकती। वैयक्तिक स्वार्थों का सीमाकरण तभी संभव है, जब व्यक्ति 'मैं' की चेतना से हटकर 'हम' की चेतना पर अवस्थित हो। 'हम' की चेतना ही 'मैं' की चेतना को विराट और महान बना सकती है। इस चेतना के जागरण पर ही व्यक्ति समाज के लिए उपयोगी बनता है और समाज व्यक्ति के लिए उपयोगी बनता है।

समाज व्यवस्था में दूसरा बाधक तत्त्व है अहं। आज का व्यक्ति इस भाषा में सोचता है—मैं यह हूं, वह हूं। मैं यह कर सकता हूं, मैं वह कर सकता हूं। मैंने यह किया है, मैंने वह किया है। व्यक्ति के अहं से उपजे ये बोल समाज-व्यवस्था में अवरोध बनते हैं। जहां हर व्यक्ति इस भाषा में सोचेगा, वहां टकराव और संघर्ष होगा। इससे समाज-व्यवस्था के प्रति उपेक्षा जागेगी। समाज की प्रगति का सपना साकार नहीं हो पाएगा। दो व्यक्तित्वों के अहं का

टकराव ही बिखराव को जन्म देता है, कटुता और घृणा को जन्म देता है। इस स्थिति में समाज और राष्ट्र की प्रगति का सपना कैसे देखा जा सकता है?

आज देश और समाज की जो स्थिति है, वह सचमुच ऐसी ही है। नेता ज्यादा हैं, कार्यकर्ता कम। सब अपने अहं और स्वार्थ की पूर्ति में लगे हुए हैं। काम करना कोई नहीं चाहता, पर कुर्सी पाना सब चाहते हैं। आज का विधायक या सांसद मंत्री ही बनना चाहता है। अपने भीतर उपजी इस आकांक्षा की येन-केन-प्रकारेण पूर्ति चाहता है। यह आकांक्षा और लालसा मनुष्य के अहं को उद्दीप्त करती रहती है। इससे समाज और राष्ट्र की व्यवस्था विकृत होती है, नैतिक और आध्यात्मिक चेतना निस्तेज हो जाती है। यह देश और समाज का दुर्भाग्य है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने-आप को नेता मान रहा है। वह किसी को अपने से बड़ा मानने के लिए तैयार ही नहीं है। किसी की आज्ञा, अनुशासन और व्यवस्था को स्वीकार करने का इच्छुक नहीं है। कितना मार्मिक है यह श्लोक—

यत्र सर्वेऽपि नेतारः, सर्वे पण्डितमानिनः।
सर्वे महत्त्वमिच्छन्ति तद्देशं दुःखभाग् भवेत्।।

समस्या की जड़

नेता बनने की यह होड़, महत्त्व पाने की दौड़ समाज व्यवस्था की नींव को खोखला कर देती है। समाज के शक्तिशून्य हो जाने पर व्यक्ति शक्तिशाली बना रहेगा? व्यक्ति की शक्ति समाज की शक्ति है और समाज की शक्ति ही व्यक्ति की शक्ति। पर मनुष्य इस सचाई को समझ नहीं पा रहा है। महत्त्व और पद पाने की लालसा में समाज और व्यक्ति दोनों का अभिभव छिपा है। आचार्य भिक्षु ने इस समस्या की जड़ को पकड़ा। उन्होंने अपने द्वारा प्रवर्तित तेरापंथ धर्मसंघ में कुछ ऐसी परंपराओं और संस्कारों को सघन बनाया जिससे असीम व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा, स्वार्थ और अहं की वृत्ति पनप नहीं सकी। आचार्य भिक्षु ने अपना-अपना शिष्य बनाने की प्रथा और पद लालसा की जड़ पर प्रहार किया। व्यक्ति का अहंकार और ममकार परिष्कृत हो गया। आचार्य भिक्षु का यह समाज-दर्शन धर्मसंघ के संदर्भ में अपनाया गया। यदि देश और समाज-व्यवस्था के संदर्भ में उसका मूल्यांकन किया जाता तो सामाजिक एवं राष्ट्रीय व्यवस्था को अनेक नए आयाम मिलते। आज देश जिस अनुशासनहीनता, उच्छृंखलता और व्यक्तिवादी मनोवृत्ति की समस्या से पीड़ित है, उससे त्राण और राहत मिलती।

सामुदायिक व्यवस्था का प्राण-तत्त्व

समाज और देश की प्रगति का रहस्य है—अहं और स्वार्थ का परिष्कार। सामुदायिक व्यवस्था का प्राण-तत्त्व है वैयक्तिक स्वार्थों का समर्पण। जब व्यक्ति अपने स्वार्थ का किसी सीमा तक विसर्जन करता है तभी वह दूसरे के लिए उपयोगी बनता है। व्यक्ति और समाज के मध्य जो संबंध सूत्र हैं, उनमें ही छिपा है व्यक्ति और समाज की प्रगति, शक्ति और सफलता का रहस्य; और जो व्यक्ति इस रहस्य को समझ लेता है वह स्वयं महान बन जाता है, उसका समाज महान बन जाता है, उसका देश महान बन जाता है और उस महानता का स्रोत बनता है व्यक्ति। ❖

घर-परिवार और मित्र-परिजनों के यहां खुशी के अवसरों पर 'जैन भारती' उपहार के रूप में एक वर्ष, तीन वर्ष या दस वर्ष तक भिजवाकर आप आध्यात्मिक-नैतिक मूल्यों के विकास में योगदान दे सकते हैं। जन्म-दिन का उपहार हो या कोई अन्य अवसर, 'जैन भारती' अनुपम उपहार के रूप में भेंट के लिए हमें लिखें। आपकी ओर से हम यह कार्य करेंगे।

जैन भारती एक संपूर्ण पत्रिका है। वैचारिक उन्मेष और परिष्कृत रंजन के लिए
जैन भारती पढ़ें—सबको पढ़ाएं।

व्यवस्थापक
जैन भारती
जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा
तेरापंथ भवन, महावीर चौक
गंगाशहर, बीकानेर 334401

तैजस शक्ति में छिपा सौंदर्य

मुनि जयंतकुमार

इस आधुनिक युग के आधुनिक वातावरण में पलने वाला हर व्यक्ति अपने-आप को सुंदर दिखाना चाहता है। अपने रूप की तस्वीर वह किन्हीं दूसरों की आंखों में बसाना चाहता है और चाहता है कि हर कोई उसके रूप पर फिदा हो जाए। उसका आकर्षण सबके मन में समा जाए और हर कोई सम्मोहित हो जाए—उसके रूप-लावण्य पर। न जाने इसके लिए मनुष्य अपनी ओर से कितना प्रयत्न करता है। अनेक शहरों में मनुष्य को सुंदर बनाने के लिए अनेक 'ब्यूटी-पार्लर' खुले हुए हैं। समय-समय पर बहुत-सी पत्र-पत्रिकाओं में इस संबंध में अनेक 'टिप्स' भी छपते हैं। मनुष्य को अपना 'मेकअप' करने के लिए अनेक प्रकार की सामग्री भी दूकानों में उपलब्ध होती है। अनेक विज्ञापन भी दिखाए जाते हैं। इसलिए आज की युवा पीढ़ी का सौंदर्य-प्रसाधन के प्रति निरंतर आकर्षण बढ़ रहा है। सौंदर्य के जिन साधनों का यह पीढ़ी भरपूर उपयोग करती है, वे साधन क्या हैं? कैसे हैं? और कितने लाभप्रद हैं? इसका विश्लेषण किए बिना मनुष्य अपने शरीर को सजाने-संवारने मात्र में इनका उपयोग करता है।

वस्तुतः सौंदर्य चमड़ी में नहीं है। वह व्यक्ति के आचार, व्यवहार और मस्तिष्क में है, पर व्यक्ति ने त्वचा-सौंदर्य को ही सब-कुछ मान लिया। वह जितना ध्यान अपने शारीरिक सौंदर्य पर देता है, शायद उतना ध्यान अपने आंतरिक सौंदर्य पर नहीं देता।

'जिस प्रकार मनुष्य ने कृत्रिम साधनों से अपने-आप को सुंदर बनाने के उपाय खोजे, क्या उसी प्रकार भीतरी सौंदर्य को प्रकट करने के साधन नहीं खोजे जा सकते? अध्यात्म के आचार्यों ने अपने भीतर उतरकर कहा कि हमारे भीतर ऐसी तैजस ऊर्जा है जिसके द्वारा हम शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक सुंदरता का निर्माण कर सकते हैं। यदि वह तैजस शक्ति जाग जाए तो मनुष्य अपने बाह्य और आंतरिक—दोनों प्रकार के सौंदर्य को उजागर कर सकता है। जिसके शरीर में तैजस शक्ति का विकास हो जाता है, उसका आभामंडल तेजोमय बन जाता है, वह शक्तिमत्ता और सुंदरता को प्राप्त कर लेता है।'

महात्मा गांधी का ही उदाहरण लें। उनका शरीर कृश तथा हड्डियों का ढांचा मात्र था। उनका बाहरी रंग-रूप दूसरों के लिए उतना आकर्षक भी नहीं था। पर उनका आचार-विचार, भावतंत्र और मस्तिष्कतंत्र इतना अधिक सुंदर-सुघड़ था कि उन्होंने इसी सौंदर्य के आधार पर भारत को लंबी दासता से मुक्त कराया तथा अनेक क्रांतिकारी विचारों से भारतीय संस्कृति को सुदृढ़ता प्रदान की। उनका जीवन अनेक प्रयोगों का संगम-स्थल था। उन्होंने अहिंसा के विचारों तथा सादगी और संयममय जीवन से अनेक लोगों को प्रभावित किया। ऐसा सौंदर्य बनाने से नहीं बनता, वह स्वाभाविक होता है। वह तेजोमय परमाणुओं से निर्मित होता है। शायद गांधीजी के पास भी उन्हीं परमाणुओं का पुंज था। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी कई बार कहते हैं—जिसका मस्तिष्क सुंदर होता है, वह व्यक्ति आकार-प्रकार में आकर्षक न होने पर भी सुंदर होता है। सौंदर्य का संबंध रूप-लावण्य से उतना नहीं, जितना आंतरिक चेतना के सौंदर्य से है। जिसने आंतरिक सौंदर्य को विकसित करने का प्रयत्न किया, उसने सारे विश्व को सुंदरता का बोधपाठ दिया और वह महापुरुष इतिहास के पृष्ठों में स्वर्णांकित हो गया।

एक व्यक्ति रंग-रूप से सुंदर होता है, देखने में भी खूबसूरत लगता है, पर

यदि उसका मस्तिष्क और भावतंत्र भद्दा हो तो वह दूसरों के लिए अहितकर और ध्वंसकारी सिद्ध हो जाता है। जब द्वितीय विश्वयुद्ध हुआ तब परमाणु बम गिराकर हजारों-हजारों व्यक्तियों को स्वाहा किया, क्या उस प्रकार का व्यक्ति आंतरिक सौंदर्य का धनी हो सकता है? क्या इतिहास उसे कभी माफ कर सकता है? इस प्रकार के आचरण से क्या कोई दुनिया का सर्वोच्च व्यक्ति बन सकता है? कभी नहीं।

भले ही व्यक्ति नानाविध सौंदर्य-प्रसाधनों से अपने-आप को सुंदर बनाने का जी-भरकर प्रयत्न करे, पर वह सौंदर्य कब तक टिकने वाला है? वह सौंदर्य संध्याभ्र के रंगों की भांति क्षणिक होता है। उस सौंदर्य सामग्री के साथ मूक प्राणियों की कराह भी जुड़ी हुई है। उनका करुण-क्रंदन क्या प्रयोक्ता के मानस को अपने आर्तस्वर से आंदोलित नहीं करेगा? उन साधनों का प्रयोग क्या मनुष्य को सुंदर बना सकेगा? भले ही मनुष्य उन निर्राह प्राणियों की चीख को न सुने, पर उनकी पीड़ा व्यक्ति को कभी आनंदित नहीं कर सकती। मनुष्य अपनी सुख-सुविधा, स्वार्थ तथा अपने-आप को सुंदर दिखाने के लिए कितने-कितने व किस प्रकार से मूक प्राणियों का वध करता है? क्या यह व्यक्ति की विडंबना नहीं? कैसी है मनुष्य की यह नृशंसता? क्या यह पर्यावरण को दूषित बनाने का साधन नहीं है? क्या यह पर्यावरण का असंतुलन नहीं है?

एक ओर पर्यावरण शुद्धि के लिए अनेक प्रकार के उपाय, तो दूसरी ओर मूक प्राणियों के खून तथा करुण कराह से निष्पन्न सामग्री से अपने-आप को सुंदर बनाने का प्रयत्न? यह प्रकृति से खिलवाड़ नहीं तो और क्या है? क्या यह खिलवाड़ इस कुरूप दुनिया को सुंदरता से भर देगा? जिस प्रकार मनुष्य ने कृत्रिम साधनों से अपने-आप को सुंदर बनाने के उपाय खोजे, क्या उसी प्रकार भीतरी सौंदर्य को प्रकट करने के साधन नहीं खोजे जा सकते? अध्यात्म के आचार्यों ने अपने भीतर उतरकर कहा कि हमारे भीतर ऐसी तैजस ऊर्जा है जिसके द्वारा हम शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक सुंदरता का निर्माण कर सकते हैं। यदि वह तैजस शक्ति जाग जाए तो मनुष्य अपने बाह्य और आंतरिक—दोनों प्रकार के सौंदर्य को उजागर कर सकता है। जिसके शरीर में तैजस शक्ति का विकास हो जाता है, उसका आभामंडल तेजोमय बन जाता है, वह शक्तिमत्ता और सुंदरता को प्राप्त कर लेता है। उस तैजस शक्ति के विकास के कुछेक उपाय ये हैं—

तपःसाधना

तप के द्वारा व्यक्ति अपने व्यक्तित्व को आकर्षक बना सकता है। तप में अलौकिक शक्ति है। वह केवल दूसरों को ही प्रभावित नहीं करती, स्वयं को भी शक्ति-संपन्न बनाती है। मनुष्य की स्वाभाविक प्रकृति है कि वह खाने के लिए नहीं खाता—जीभ के स्वाद के लिए खाता है। इसलिए स्वाद के लिए जो खाया जाता है, वह बहुधा अधिक मात्रा में और अनावश्यक होता है। जीवन को चलाने के लिए भोजन करना जितना आवश्यक है, उससे अधिक आवश्यक है भोजन का संयम। जीवन की तेजस्विता के लिए अल्प मात्रा में भोजन करना, उपवास से लेकर यथाशक्ति तपस्या करना अनिवार्य है। वैज्ञानिक दृष्टि से चिंतन करें तो ज्ञात होगा कि जो शक्ति भोजन पचाने में खर्च होती है, वह शक्ति भोजन का लंघन करने से काफी हद तक बच जाती है। उस ऊर्जा का उपयोग मानसिक और आध्यात्मिक विकास के लिए किया जा सकता है। जब मानसिक और आध्यात्मिक विकास होता है, तब सहज ही आंतरिक सौंदर्य प्रस्फुटित होने लगता है। जब आंतरिक सौंदर्य प्रकट होता है, तब जीवन भी तेजोमय तथा शक्तिमय बन जाता है।

मंत्र का लयबद्ध उच्चारण

आज के युग में ध्वनि-तरंगों का काफी महत्त्व है। वे ध्वनि-तरंगें प्रकंपन के रूप में व्यक्ति को प्रभावित करती हैं। उन ध्वनि-तरंगों में सूक्ष्म और अद्‌भुत शक्ति होती है। व्यक्ति अपने मुख से जो भी उच्चारण करता है, उसका प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से अवश्य प्रभाव होता है। मंत्रों का विकास ध्वनि-तरंगों के आधार पर हुआ। मंत्र-विज्ञान उच्चारण पर पर्याप्त बल देता है। मंत्र-सिद्धि के लिए लयबद्ध उच्चारण का होना अत्यंत अनिवार्य है। आज का विज्ञान दो प्रकार की विद्युत स्वीकार करता है—पोजीटिव (धन) विद्युत, नेगेटिव (ऋण) विद्युत। व्यक्ति के मस्तिष्क में पोजीटिव विद्युत है और जीभ में नेगेटिव। जब भी मनुष्य किसी मंत्र का लय बद्ध जाप करता है तब जीभ का तालु से स्पर्श होने पर पोजीटिव और नेगेटिव दोनों विद्युतों का आपस में संमिलन होता है। दोनों के संमिलन से प्रकाश-तरंगों का प्रादुर्भाव होता है। जब-जब उच्चारण में लयबद्धता आती है, तब-तब दोनों प्रकार की विद्युत मिलकर अधिक प्रकाश तरंगों को उत्पन्न करती हैं। उनसे अनायास ही मनुष्य की तैजस शक्ति बढ़ जाती है। तैजस शक्ति का विकास ही वास्तव में आंतरिक सौंदर्य को प्रकट करता है और वही व्यक्ति को शक्ति-संपन्न तथा आनंद-संपन्न बनाता है।

रंगों का ध्यान

ध्यान जीवन को रूपांतरित करने का सशक्त आलंबन तथा अपने आंतरिक सौंदर्य को प्रकट करने का माध्यम है। ध्यान करने के अनेक प्रकार हैं। उनमें लेश्या ध्यान अति महत्त्वपूर्ण और जीवन बदलने का शक्तिशाली साधन है। लेश्या ध्यान का तात्पर्य ही है—रंगों का ध्यान। रंग हमारी भावधारा व विचारधारा को बदल सकते हैं। हमारी भीतरी दुनिया इतनी अधिक रंगबिरंगी है, इसका अनुभव लेश्या ध्यान से हो सकता है। मनुष्य रंगों की होली खेलता है। यदि वह अपने आंतरिक जगत में रंगों से खेलना सीख जाए तो उसका व्यवहार-स्वभाव बदल सकता है, आचार-व्यवहार में परिवर्तन हो सकता है और आवेग-संवेग पर नियंत्रण पाया जा सकता है। उदाहरण के तौर पर नीला रंग अध्यात्म का प्रतीक है। अध्यात्म के विकास के लिए तथा हिंसात्मक वृत्तियों को बदलने के लिए यह रंग महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

इसी तरह पीला रंग मन की प्रसन्नता का प्रतीक है। पीले रंग का ध्यान मस्तिष्क व नाड़ी संस्थान को शक्तिशाली बनाता है। बुद्धि-विकास के लिए इस रंग का ध्यान किया जाता है। पुरानी आदतों को बदलने व नई आदतों का निर्माण करने के लिए पीला रंग काफी सहायक होता है। अलबत्ता इसका प्रयोग अल्प समय तक ही करना चाहिए।

लाल रंग ऊष्मा का वाहक है। यह शरीर में प्रतिरोधात्मक शक्ति, सक्रियता, तेजस्विता व दीप्ति को उत्पन्न करता है। रक्त में लाल कणों की कमी के लिए लाल रंग उत्तरदाई होता है। यह स्वास्थ्य का मूल है। यदि शरीर में श्वेत कणों की मात्रा अधिक हो जाती है तो उससे मनुष्य अस्वस्थ हो जाता है। इसलिए लाल रंग का ध्यान शारीरिक और मानसिक विकास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

इसी प्रकार श्वेत रंग जीवन की पवित्रता का द्योतक है। उपशम की साधना व कषायों के विलय के लिए सफेद रंग का ध्यान व्यक्ति को राग से वीतराग की ओर तथा आत्मा से परमात्मा की ओर उन्मुख करता है। इसलिए आंतरिक सौंदर्य को निखारने के लिए रंग को गौण नहीं किया जा सकता।

रंग विज्ञान के अनुसार प्रकाश तरंग के रूप में अभिव्यक्त होता है। प्रकाश का रंग उसके तरंग-दैर्ध्य पर अवलंबित है। तरंग की लंबाई और कंपन की आवृत्ति आपस में तुलना की दृष्टि से सर्वथा विपरीत हैं। जब तरंग की लंबाई बढ़ती है तब कंपन की आवृत्ति कम होती है। जब तरंग की लंबाई घटती है तब कंपन की आवृत्ति बढ़ती है। सूर्य का प्रकाश जब त्रिपार्श्व कांच में प्रत्यावर्तित होता है तब वह उसमें विक्षेपण के कारण सात रंगों में विभक्त होता हुआ दिखाई देता है। उस सप्तरंगी आकृति को स्पैक्ट्रम (वर्ण पट) कहते हैं। उन रंगों में लाल रंग की तरंग की लंबाई सबसे अधिक और बैंगनी रंग का तरंग-दैर्ध्य सबसे कम होता है। दूसरी ओर लाल रंग के प्रकाश की कंपन आवृत्ति सबसे कम और बैंगनी रंग के प्रकाश की कंपन-आवृत्ति सबसे अधिक होती है। दृश्य-जगत में सूर्य से प्रसारित होने वाली प्रकाश-तरंग जब किसी पदार्थ से गुजरती है तब वह किसी रंग-विशेष के रूप में प्रकट होती है। इसका कारण है कि वह पदार्थ अपनी विशिष्टता के कारण किसी विशेष तरंग-दैर्ध्य को छोड़कर शेष सभी तरंगों को शोषित कर लेता है। जैसे दूब हरे रंग के तरंग-दैर्ध्य को छोड़कर शेष सभी तरंग-दैर्ध्य को शोषित कर लेती है। इसलिए आंखों को दूब हरी दिखाई देती है।

इससे निष्कर्ष निकलता है कि पदार्थ का रंग तीन बातों पर अवलंबित है—पड़ने वाले प्रकाश की प्रकृति, पदार्थ द्वारा तरंग-दैर्ध्य का शोषीकरण तथा विभिन्न रंगों की प्रकाश किरणें। इन तीनों कारणों से ही आंखों द्वारा दृश्य पदार्थों का रंग प्रतीत होता है।

आतापना

आंतरिक सौंदर्य को निखारने का एक अनुपम उपाय है—आतापना। इस सौर-मंडल में सूर्य सबसे अधिक तैजस शक्ति-संपन्न है। हमारे शरीर की भीतरी शक्तियों को जगाने के लिए तेजोमय परमाणुओं की आवश्यकता होती है। सूर्य ऊर्जा का केंद्रबिंदु है। पाचनतंत्र को स्वस्थ रखने के लिए सूर्य के प्रकाश की आवश्यकता होती है। उसके अभाव में हमारा पाचनतंत्र भी संकुचित हो जाता है। जिस प्रकार सूर्य के अस्त होने पर सूरजमुखी फूल संकुचित हो जाता है और सूर्योदय होने पर विकसित हो जाता है—उसी प्रकार शरीर पर भी सूर्य के प्रकाश का प्रभाव पड़ता है। अधिकतर बीमारियों का अनुभव मनुष्य को दिन के ढलने पर ही होता है। इसलिए शरीर में ऊर्जा की आवश्यकता होती है। आतापना के द्वारा हम अतिरिक्त ऊर्जा का संचय कर सकते हैं। प्रातःकाल सूर्योदय के पश्चात् एक अथवा डेढ घंटे का समय धूपस्नान के लिए उचित माना जाता है। वस्त्रों को हटाकर सूर्य की किरणों के साथ शरीर का सीधा संपर्क साधना, सूर्य का आतप लेना आतापना की विशेष विधि है। यदि प्रतिदिन मनुष्य सूर्य की आतापना लेता है तो वह

अपनी तैजस शक्ति को जागृत कर सकता है। वह ऊर्जा, शक्ति-संपन्न बन सकता है। इसलिए आतापना के द्वारा मनुष्य अपनी भीतरी शक्तियों को जगाकर आंतरिक सौंदर्य का स्वामी बन सकता है।

प्राणायाम :

भीतरी सौंदर्य को प्रकट करने का एक महत्त्वपूर्ण उपक्रम है—प्राणायाम। यह संजीवनी-शक्ति है। इसके द्वारा प्राण का संयम तथा अनुशासन होता है। सामान्यतः यह रेचक, पूरक और कुंभक की क्रिया है। प्राणायाम शारीरिक स्वास्थ्य का निर्माण करता है, स्नायुतंत्र का शोधन करता है और आंतरिक सौंदर्य को प्रकट करता है। प्राण का ग्रहण श्वास के द्वारा होता है। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि श्वास का संबंध प्राण से है, प्राण का संबंध तैजस शरीर से तथा तैजस शरीर का संबंध कर्म-शरीर से है। मनुष्य जब श्वास लेता है तो उसके साथ प्राणवायु (आक्सीजन) भीतर जाती है। प्रतिदिन प्राणायाम करने से शरीर में एक नई ऊर्जा और शक्ति का संचार होता है। प्राण-शक्ति के आधार पर योगनिष्ठ आचार्य विचित्र प्रकार के चमत्कार दिखाते हैं। क्योंकि प्राण का संबंध तैजस शक्ति से है। उससे मनुष्य की सुषुप्त क्षमताएं जागृत होती हैं। इस दृष्टि से प्राणायाम आंतरिक सौंदर्य को प्रकट करने का महत्त्वपूर्ण साधन बनता है। यदि व्यक्ति तैजस शक्ति-संपन्न बनना चाहता है, तो उसे प्राणायाम का भी अभ्यास करना चाहिए।

प्राणायाम के अनेक प्रकार हैं—संहिता, कुंभक, सूर्यभेदी, चंद्रभेदी, समवृत्ति, भस्त्रिका, उज्जाई, शीतली, भ्रामरी, मूर्च्छा आदि। सूर्यभेदी प्राणायाम, समवृत्ति प्राणायाम तथा भस्त्रिका प्राणायाम आदि तैजस शक्ति के विकास के लिए अति महत्त्वपूर्ण होते हैं।

इन तथ्यों के आधार पर यह फलित होता है कि सौंदर्य का संसार केवल त्वचा तक ही सिमटा हुआ नहीं है, वह वहां तक फैला हुआ है जहां व्यक्ति अपनी मर्जी से जाना नहीं चाहता। अज्ञात में जाकर छिपे सौंदर्य का अनुभव करना, बाहरी रूप-रंग से हटकर भीतर में असली सौंदर्य को देखना ही अपने-आप को सुंदर बनाने का सार्थक प्रयत्न हो सकता है। यदि इन उपायों से भीतर का सौंदर्य प्रकट हो जाए तो वह व्यक्ति दुनिया का सबसे सुंदरतम व्यक्ति होगा। काश! ऐसा सौंदर्य सभी में प्रकट हो जाता तो दुनिया का नक्शा ही बदल जाता।

आंतरिक सौंदर्य की फलश्रुति है—सुंदर व्यक्ति और सुंदर विश्व का निर्माण, भावों का विशुद्धीकरण, आचार-व्यवहार का परिष्कार। ❖

कृपया ध्यान दें

जैन भारती के लिए रचनाएं भेजते समय कृपया निम्नोक्त बिंदुओं का अवश्य ध्यान रखें—

- आपकी रचना कम से कम 1500-2000 शब्दों से लेकर 2500-3000 शब्दों के मध्य हो। कुछेक आलेख जैन भारती के एक पृष्ठ से भी कम आकार के होते हैं, जो हमारे लिए अपर्याप्त हैं। जैन भारती के लिए ऐसे आलेख काम में लेना संभव नहीं। अतः इतने छोटे आलेख न भेजें।
- रचनाएं 'फुल स्केप' कागज पर एक तरफ हाथ से लिखी या टाइप की हुई हों। पूरा हाशिया अवश्य छोड़ें। दो पंक्तियों के बीच भी पर्याप्त स्थान होना जरूरी है।
- फोटोकॉपी न भेजें अथवा सुस्पष्ट हो तो ही भेजें।

कृपया उपरोक्त हिदायतों की ओर पूरा ध्यान देकर हमें सहयोग करें।

अंधकार में आलोक

शरत् चंद्र चट्टोपाध्याय

बहुत दिनों की बात है। जब वह बी. ए. पास करके अपने घर लौटा, उसकी मां ने कहा—'बेटा वह लड़की बिल्कुल लक्ष्मी है। मेरी बात मानो और एक बार जाकर उसे अपनी आंखों से देख आओ।'

सत्येंद्र ने सिर हिलाकर कहा—'नहीं मां, अभी यह मुझसे न होगा। नहीं तो फिर मैं परीक्षा में पास न हो सकूंगा।'

मां ने कहा—'क्यों न हो सकेगा? बहू रहेगी मेरे पास और तेरी पढ़ाई-लिखाई होगी कोलकाता में, मैं तो नहीं समझ सकती कि इससे तेरे पास होने पर क्या बाधा पड़ेगी?'

सत्येंद्र ने कहा—'नहीं मां, वह ठीक नहीं होगा। अभी मुझे समय नहीं है।'

यह कहकर सत्येंद्र बाहर जा रहा था कि उसकी मां ने कहा—'जाओ मत, खड़े रहो, एक बात और भी कहनी है।' फिर कुछ रुककर कहा—'बेटा, मैंने उन लोगों को वचन दे दिया है। क्या तू मेरी बात न रखेगा?'

सत्येंद्र मुड़कर खड़ा हो गया और कुछ असंतुष्ट होकर बोला—'मुझसे बिना पूछे ही उन्हें क्यों वचन दिया?'

लड़के की बात सुनकर मां के मन में बहुत कष्ट हुआ। उसने कहा—'खैर, मुझसे भूल हो गई। पर तुमको तो अपनी मां की बात रखनी पड़ेगी। इसके सिवा

'बांग्ला कथा लेखक शरत् चंद्र बांग्ला साहित्य में जितने लोकप्रिय हैं, हिंदी जगत में भी उनका उतना ही महत्त्व है। शरत् बाबू के कथा साहित्य में नारी मन को जिस खूबी के साथ उकेरा जाता है, अन्यत्र वैसा देखने को कम ही मिलेगा। प्रस्तुत कहानी उनकी ऐसी लोकप्रिय कथा है जिसमें एक नारी नर्तकी के पेशे से विरक्त होकर अपनी जीवन-दिशा ही बदल लेती है और कई कठिनाइयों को भी उसे झेलना पड़ता है। कहानी में मनोवैज्ञानिक तरीके से मनुष्य में छिपे हुए मनोविकार प्रकट होते हैं, उनका उपचार होता है और अंततः एक आध्यात्मिक स्वरूप परिलक्षित होने लगता है। यही इस कहानी की विशेषता है।

अंतरराष्ट्रीय महिला दिवस (8 मार्च) पर इसीलिए अपने पाठकों के लिए प्रस्तुत है यह कहानी—'

वह विधवा की लड़की बहुत दुखिया है। बेटा, मेरी बात सुनो—मान जाओ।'

'अच्छा, फिर कहूंगा', कहकर सत्येंद्र बाहर चला गया। मां बहुत देर तक चुपचाप वहीं खड़ी रही। यही उसकी एकमात्र संतान थी। सात-आठ बरस हुए, स्वामी का देहांत हो चुका है तब से बेचारी विधवा स्वयं ही गुमाश्तों और कारिंदों की सहायता से अपनी बहुत बड़ी जमींदारी की व्यवस्था करती है। लड़का कोलकाता में रहकर किसी कालेज में पढ़ता है। उसे अपनी जमींदारी वगैरह की कुछ भी फिक्र नहीं करनी पड़ती। विधवा मां ने अपने मन में सोच रखा था कि जब लड़का वकालत पास कर लेगा, तब मैं उसका ब्याह कर दूंगी और अपने पुत्र तथा पुत्र-वधू पर जमींदारी और गृहस्थी का सब भार देकर निश्चिंत हो जाऊंगी। उसने यह भी सोचा था कि इससे पहले मैं अपने लड़के को गृहस्थी के झंझटों में फंसाकर उसकी उच्च शिक्षा में बाधक न बनूंगी। पर बीच में कुछ और ही बात हो गई। स्वामी की मृत्यु के उपरांत इतने दिनों तक इस बीच में कोई काज-कर्म नहीं हुआ था। उस दिन किसी व्रत के उपलक्ष्य में गांव-भर के सब लोगों को निमंत्रित किया गया। उनमें स्वर्गीय अतुलचन्द्र मुकर्जी की दरिद्र विधवा भी अपनी ग्यारह बरस की लड़की को साथ लेकर आई। लड़की उसे बहुत पसंद आई। वह केवल सुंदरी ही नहीं, इस

छोटी अवस्था में ही अशेषगुणवती थी और यह बात उसके साथ केवल दो-चार बातें करने से ही सत्येंद्र की मां की समझ में आ गई।

उस समय मां ने मन-ही-मन कहा कि अच्छा, मैं अपने लड़के को जरा यह लड़की दिखला तो लूं। फिर देखूंगी कि वह इसे कैसे नापसंद करता है!

दूसरे दिन जब सत्येंद्र दोपहर के बाद कुछ खाने के लिए अपनी मां के कमरे में पहुंचा तब स्तब्ध होकर खड़ा रह गया। उसने देखा कि उसके खाने की जगह के ठीक सामने ही एक आसन पर हीरे, मानिक और मोतियों से सजी हुई मानो कोई वैकुंठ की लक्ष्मी बैठी है।

मां ने भी कमरे में पहुंचकर कहा—'खाने बैठो।'

सत्येंद्र की मानो तंद्रा भंग हो गई। उसने कुछ हड़बड़ाकर कहा—'यहां क्यों, मैं और किसी जगह बैठकर खा लूंगा।'

मां ने मुस्कराते हुए कहा—'तू सचमुच कुछ ब्याह तो कर नहीं रहा है, फिर इस जरा-सी लड़की के सामने लज्जा किस बात की?'

'मैं किसी से लज्जा नहीं करता', कहकर सत्येंद्र कुछ अप्रतिभ होकर वहीं सामने वाले आसन पर बैठ गया। मां वहां से चली गई। सत्येंद्र दो ही मिनट में बहुत जल्दी-जल्दी किसी प्रकार भोजन समाप्त करके उठ गया।

अपनी बाहर वाली बैठक में पहुंचकर उसने देखा कि इसी बीच में उसके कई मित्र भी वहां आ पहुंचे हैं और चौसर बिछी हुई है। उसने पहले से ही दृढ़तापूर्वक आपत्ति प्रकट करते हुए कहा—'मैं किसी तरह नहीं बैठ सकूंगा। मेरे सिर में बहुत सख्त दर्द हो रहा है। (बंगालियों में यह प्रथा है कि जब किसी का विवाह होने को होता है, तब वह अपने घनिष्ठ मित्रों के साथ पहले भावी वधू को पसंद करने के विचार से देखता है। इस अवसर पर अनेक प्रकार के परिहास और वधू की अनेक प्रकार की परीक्षाएं होती हैं। इसी के लिए उसके मित्र वहां एकत्र हुए थे और उनका अभिप्राय समझकर सत्येंद्र ने बीमारी का बहाना किया था।) इतना कहकर वह एक कोने में चला गया और तकिए पर सिर रखकर आंखें बंद करके लेट गया। मित्रों को मन-ही-मन कुछ आश्चर्य हुआ। उन्होंने खेलने वालों की कमी के कारण चौसर उठाकर शतरंज ला बिछाई। संध्या तक कई बाजियां हुईं, बहुत-सी बातें और कहा-सुनी हुई, पर सत्येंद्र न तो एक बार भी अपने स्थान से उठा और न उसने किसी से यही पूछा कि कौन हारा और कौन जीता। आज उसे ये सब बातें अच्छी ही नहीं लग रही थीं।

जब उसके मित्र चले गए और वह मकान के अंदर पहुंचकर सीधा अपने सोने के कमरे में जा रहा था, तब भंडार वाले बरामदे में से मां ने पूछा—'तू आज अभी से सोने क्यों जा रहा है?'

सत्येंद्र ने कहा—'मैं सोने नहीं, पढ़ने जा रहा हूं। एम.ए. की पढ़ाई मामूली नहीं होती, समय नष्ट करने से कैसे काम चलेगा?'

इतना कहकर वह धम्-धम् शब्द करता हुआ ऊपर चला गया।

आधा घंटा बीत गया, पर उसने एक सतर भी नहीं पढ़ी। टेबुल पर सामने किताब खुली हुई रखी थी और वह कुरसी पर पसरा हुआ ऊपर की तरफ मुंह करके छत की कड़ियां गिन रहा था। अचानक उसका ध्यान टूट गया, उसने कान खड़े करके सुना—झम्! क्षण-भर बाद ही फिर सुनाई पड़ा झम्-झम्! सत्य सीधी तरह से बैठ गया। इतने में उसने सिर से पैरों तक गहने पहने हुए वही लक्ष्मीस्वरूपा कन्या धीरे-धीरे आती हुई देखी। वह आकर उसके पास खड़ी हो गई। सत्य टकटकी लगाकर देखने लगा। लड़की ने बहुत ही कोमल स्वर में कहा—'मां ने आपकी सम्मति पूछी है।'

> बिजली ने क्षण-भर तक आंखें बंद करके स्थिर होकर कहा—'नहीं बहन, चार बरस पहले जिस दिन वे इस अस्पृश्या को पहचानकर मारे घृणा के मुंह फेरकर चले आए, उस दिन मैंने दर्प के साथ कहा था कि फिर मुलाकात होगी और तुम फिर आओगे। पर मेरा वह दर्प नहीं रहा, वे फिर नहीं आए। पर आज मेरी समझ में आ रहा है कि क्यों दर्पहारी भगवान ने मेरा वह दर्प तोड़ दिया। बहन, वे तोड़कर किस प्रकार फिर से गढ़ देते हैं और छीनकर किस प्रकार लौटा देते हैं, इसे जितनी अच्छी तरह मैं जानती हूं और कोई नहीं जानता।' एक बार और आंचल से अच्छी तरह आंखें पोंछकर वह बोली, 'मैंने अत्यधिक हार्दिक कष्ट के कारण भगवान को निर्दय, निष्ठुर कहकर अनेक दोष दिए हैं; परंतु अब मैं समझ रही हूं कि इस पापिष्ठा पर उन्होंने कितनी दया की है। यदि वे मुझे उन्हें लौटा ला देते, तो मैं सब तरफ से मिट्टी हो जाती। उन्हें भी न पाती और खुद को भी खो देती।'

सत्य ने कुछ देर चुप रहने के बाद पूछा—'किसकी मां ने?'

लड़की ने कहा—'मेरी मां ने।'

सत्य को इसका कोई उत्तर ढूंढे न मिला। कुछ देर बाद उसने कहा—'मेरी मां से पूछ लेना, उन्हीं से मालूम हो जाएगा।'

लड़की वहां से जा रही थी कि सत्य सहसा उससे पूछ बैठा—'तुम्हारा नाम क्या है?'

लड़की 'मेरा नाम राधारानी है' कहकर चली गई।

2

उस जरा-सी राधारानी के ध्यान से बलपूर्वक अपना पीछा छुड़ाकर सत्य एम. ए. पास करने के लिए कोलकाता चला आया। उसने निश्चय कर लिया कि जब तक मैं विश्वविद्यालय की समस्त परीक्षाओं में उत्तीर्ण न हो जाऊंगा तब तक किसी प्रकार विवाह न करूंगा; यदि संभव हुआ तो उसके बाद भी न करूंगा; कारण, गृहस्थी के झगड़ों में फंसने से मनुष्य का आत्मसम्मान नष्ट हो जाता है, इत्यादि-इत्यादि। फिर भी रह-रहकर उसके मन में न जाने क्या होने लगता है और यदि कभी कहीं कोई स्त्री दिखाई पड़ जाती है तो उसके पास ही एक और छोटा-सा मुख उसे दिखाई पड़ने लगता है और वही छोटा मुख उस स्त्री को आवृत करके अकेला ही विराजता रह जाता है। इस प्रकार सत्य किसी तरह उस लक्ष्मी की प्रतिमा को भुला नहीं सका है। वह सदा से स्त्रियों की ओर से उदासीन था, पर अब अकस्मात् उसे न जाने क्या हो गया है कि जब कभी वह रास्ते में या और कहीं किसी वयस्क लड़की को देखता है, तो उसका जी चाहता है कि मैं उसे अच्छी तरह देखूं। हजार चेष्टाएं करने पर भी वह किसी प्रकार उसकी ओर से अपनी दृष्टि नहीं हटा सकता। देखते-देखते हठात्, और संभव है कि अत्यंत लज्जा के कारण उसका सारा शरीर सिहर उठता और वह तुरंत ही वहां से, जिधर मुंह उठता, उधर ही जल्दी से खिसक जाता।

सत्य को तैरकर स्नान करने का बहुत शौक था। उसके चोरबागान वाले मकान से गंगा अधिक दूर नहीं थी और इसीलिए वह प्रायः जगन्नाथ-घाट पर स्नान करने जाया करता था।

आज पूर्णिमा का दिन था। घाट पर कुछ भीड़ हो रही थी। गंगा-किनारे आकर जिस उड़िया ब्राह्मण के पास अपने सूखे वस्त्र आदि रखकर जल में उतरता था, उसी की ओर जब वह बढ़ा जा रहा था, तब एक जगह बाधा पाकर उसे कुछ रुक जाना पड़ा। वहां उसने देखा कि चार-पांच आदमी एक तरफ देख रहे हैं। सत्य ने उनकी दृष्टि का अनुसरण करके ज्यों ही देखा, त्यों ही वह विस्मय से स्तब्ध हो गया। उसे ऐसा जान पड़ा कि मैंने एक साथ इतना अधिक रूप आज तक कभी किसी स्त्री-शरीर में देखा ही नहीं। उसकी अवस्था अठारह-उन्नीस वर्ष से अधिक नहीं थी। वह एक मामूली काली किनारे की सफेद धोती पहने थी। उसके सारे शरीर में कोई गहना नहीं था। वह घुटनों के बल बैठी हुई मस्तक पर चंदन की छाप लगवा रही थी और उसका परिचित पंडा एकाग्र मन से उस सुंदरी के मस्तक और नाक पर चंदन चर्चित कर रहा था।

सत्य पास जाकर खड़ा हो गया। पंडे को सत्य से भी यथेष्ट दक्षिणा मिला करती थी, इसीलिए उसने उस रूपसी के चंद्रमुख की खातिरदारी छोड़कर अपने हाथ का छापा फेंककर बड़े बाबू के सूखे वस्त्र लेने के लिए हाथ बढ़ाया।

दोनों की आंखें चार हो गईं। सत्य जल्दी से अपने कपड़े पंडे के हाथ में देकर सीढ़ियां उतरता हुआ जल में जा पहुंचा। पर आज वह तैरा नहीं और किसी प्रकार जल्दी-जल्दी स्नान करके जब कपड़े बदलने के लिए ऊपर पहुंचा तब उसने देखा कि वह असामान्य रूपसी वहां से चली गई है।

उस रोज दिन-भर सत्य का मन गंगा-गंगा करता रहा। दूसरे दिन पूरी तरह से सबेरा भी नहीं होने पाया था कि गंगा माता ने उसे इतनी जोर से अपनी तरफ खींचा कि वह खूंटी पर से एक धोती लेकर तुरंत गंगाजी की तरफ चल पड़ा।

घाट पर पहुंचकर उसने देखा कि वह अपरिचिता रूपसी स्नान करके अभी-अभी ऊपर आई है। जब सत्य स्नान करके स्वयं पंडे के पास पहुंचा, तब वह रूपसी भी पहले दिन की तरह पंडे से ललाट पर चंदन लगवा रही थी। आज भी दोनों की आंखें चार हुईं, आज भी उसके सारे शरीर में बिजली दौड़ गई और वह किसी प्रकार जल्दी कपड़े बदलकर वहां से चला।

3

सत्य ने समझ लिया कि यह स्त्री नित्य ही प्रातःकाल स्नान करने के लिए आया करती है। अब तक जो हम दोनों का साक्षात् नहीं हो सका, इसका कारण यह है कि मैं इससे पहले स्वयं ही देर करके स्नान करने आया करता था।

गंगा-किनारे सात दिनों से बराबर दोनों की देखा-देखी होती आ रही है, पर आज तक कोई बातचीत होने की नौबत नहीं आई। कारण, जहां केवल आंखों-आखों में बातें होती हैं वहां मुख को मूक होकर ही रहना पड़ता है। वह

अपरिचिता रूपसी चाहे जो हो, पर उसने आंखों से बातें करने की शिक्षा का यथेष्ट अभ्यास किया है एवं इस विद्या में वह पारदर्शिनी है, सत्य के अंतर्यामी ने इस बात को अपने निभृत अंतर में अनुभव कर लिया।

उस दिन वह जब स्नान करके कुछ अन्यमनस्कता से अपने घर लौट रहा था, तब एकाएक उसे सुनाई पड़ा, 'जरा सुनिए तो!' उसने सिर उठाकर देखा तो रेलवे लाइन के उस पार वही रमणी खड़ी हुई है। उसकी कमर पर बाईं ओर जल से भरी हुई पीतल की एक छोटी कलसी है और दाहिने हाथ में गीली धोती। उसने सिर हिलाकर, संकेत से बुलाया। सत्य इधर-उधर देखकर उसके पास जा खड़ा हुआ। उसने उत्सुक नेत्रों से देखकर मृदु स्वर में कहा—'आज मेरी नौकरानी नहीं आई है। यदि आप कृपाकर मुझे कुछ दूर तक पहुंचा दें, तो बहुत अच्छा हो।' हमेशा वह अपने साथ एक नौकरानी लेकर आया करती थी, पर आज अकेली थी।

सत्य के मन में कुछ दुविधा हुई कि यह ठीक नहीं है, उसने एक बार चाहा भी, पर वह किसी तरह अपने मुंह से 'नहीं' न कह सका। रमणी उसके मन का भाव समझकर कुछ हंसी और इस प्रकार की हंसी जिन्हें आती है, उनके लिए संसार में कुछ अप्राप्त नहीं है। सत्य तुरंत ही 'चलिए' कहकर उसके पीछे हो लिया। दो-चार कदम आगे बढ़ने पर स्त्री ने फिर कहा—'नौकरानी बीमार है, वह आ नहीं सकी। लेकिन मैं भी बिना गंगा-स्नान किए नहीं रह सकती; और देखती हूं कि आपको भी यह बुरी आदत पड़ी हुई है!'

सत्य ने धीरे से कहा—'जी हां, मैं भी प्रायः गंगा-स्नान करने आता हूं।'

'यहां आप कहां रहते हैं?'

'मेरा मकान चोरबागान में है।'

'मेरा मकान जोड़ा-सांकू में है। आप मुझे पथरिया घाट के मोड़ तक पहुंचा दीजिएगा और तब बड़ी सड़क से चले जाइएगा।'

'अच्छी बात है।'

फिर बहुत देर तक दोनों में कोई बातचीत नहीं हुई। चितपुर वाली सड़क पर पहुंचकर स्त्री घूमकर खड़ी हो गई और फिर वही हंसी हंसकर बोली—'बस, मेरा मकान पास ही है, अब आप जा सकते हैं....नमस्कार।'

सत्य नमस्कार करके, गर्दन नीचे करके जल्दी से चला गया। उस रोज उसके मन की जो अवस्था रही वह लिखकर बतलाना असंभव है। उस दिन क्या हुआ था, यह केवल वही अनुभव कर सकेंगे जिन्हें यौवन-काल में पंचशर के प्रथम पुष्प-बाण का आघात सहना पड़ा है। सब लोग यह बात नहीं समझ सकेंगे कि किस उन्माद के नशे में मत्त होने पर जल-स्थल, आकाश-पाताल—सब रंगीन दिखने लगते और इस प्रकार सारा चैतन्य, अपनी सारी चेतना खोकर, एक प्राणहीन चुंबक के टुकड़े की तरह, केवल उसी एक ओर खिंच जाने के लिए प्रत्येक पल उन्मुख हो रहता है।

दूसरे दिन सवेरे सत्य ने जागकर देखा कि धूप निकल आई है। व्यथा की एक तरंग उसके कंठ तक को झकझोरती हुई निकल गई और उसने निश्चित रूप से समझ लिया कि आज का सारा दिन बिल्कुल ही व्यर्थ गया। नौकर सामने से चला जा रहा था। उसे खूब डपटकर कहा—'हरामजादे, इतना दिन चढ़ गया और तूने मुझे जगाया तक नहीं। जा, तुझ पर एक रुपया जुरमाना करता हूं।'

उस बेचारे के होश-हवाश गुम हो गए और वह चुपचाप देखता रह गया। सत्य बिना दूसरा वस्त्र लिए ही गुस्से से भरा हुआ घर से निकल गया।

बाहर आते ही उसने किराए की एक गाड़ी ली और गाड़ीवान को पथरियाघाट से होकर चलने का हुक्म देकर रास्ते के दोनों तरफ प्राणपण से अपनी आंखें बिछा दीं। पर जब गंगाजी के पास पहुंचकर उसने घाट की ओर देखा, तब उसका सारा क्षोभ शांत हो गया। बल्कि ऐसा जान पड़ा कि मानो अकस्मात् सड़क पर पड़ा हुआ एक अमूल्य रत्न पा लिया है।

ज्यों ही सत्य गाड़ी से उतरा, त्यों ही उस स्त्री ने मुस्कराकर नितांत परिचितों की तरह कहा—'आज बहुत देर कर दी? मैं आध घंटे से यहां खड़ी हूं। जल्दी नहा लीजिए, आज भी मेरी नौकरानी नहीं आई है।'

'बस, एक मिनट और ठहर जाइए।' कहकर सत्य जल्दी से जल में उतरा। उसका तैरना न जाने कहां चला गया। वह जैसे-तैसे जल्दी-जल्दी दो-तीन डुबकियां लगाकर आ पहुंचा और बोला—'मेरी गाड़ी कहां गई?'

रमणी ने कहा—'मैंने किराया देकर विदा कर दिया है।'

'आपने किराया दिया?'

'हां दे दिया, चलिए,' कहकर वह एक बार और भुवन-मोहिनी हंसी हंसकर आगे बढ़ गई।

सत्य एकबारगी अपना दिल दे बैठा था, नहीं तो लाख निरीह और लाख अनभिज्ञ होने पर भी उसे एक बार अवश्य संदेह होता कि आखिर यह सब क्या मामला है!

रास्ता चलते-चलते रमणी बोली—'आपने अपना मकान कहां बतलाया था? चोरबागान में?'

'हां।'

'वहां क्या केवल चोर ही रहते हैं?'

सत्य ने चकित होकर पूछा,. 'क्यों?'

'आप चोरों के राजा जो ठहरे!'

इतना कहकर रमणी गरदन कुछ टेढ़ी करके कटाक्ष करती और मुस्कराती हुई फिर चुपचाप मराल-गति से चलने लगी। आज कमर पर जो कलसी थी, वह कुछ बड़ी थी और उसमें भरा हुआ गंगा-जल छलछल शब्दों के द्वारा मानो कह कर रहा था—'अरे मुग्ध, अरे अंध युवक, सावधान! यह सब छल है....यह सब धोखा है।' और इस प्रकार वह जल उछल-उछलकर कभी व्यंग्य और कभी तिरस्कार करने लगा।

मोड़ के पास पहुंचकर सत्य ने संकोच के साथ कहा—'गाड़ी का किराया?'

रमणी मुड़कर खड़ी हो गई और अस्फुट तथा कोमल स्वर में बोली—'एक तरह से वह आपका दिया हुआ ही तो है!'

सत्य ने इस इशारे को न समझकर पूछा—'मेरा दिया हुआ कैसे?'

'मेरे पास अब अपना है ही क्या, जो मैं दूंगी? जो-कुछ मेरा था वह सब तो तुमने पहले ही चोरी और डकैती करके ले लिया है।'

इतना कहकर उसने तत्काल ही मुंह फेर लिया। मानो वह अपनी उच्छ्वसित हंसी के वेग को बलपूर्वक रोकने लगी।

यह अभिनय सत्य नहीं देख सका, इसलिए चोरी के इस प्रच्छन्न संकेत ने तीव्र विद्युत-रेखा की तरह उसके संशय-जाल को आर-पार विदीर्ण करके हृदय के अंतस्तल तक प्रकाशित कर दिया। उसी समय उसका जी चाहा कि मैं इस आम सड़क पर ही इसके लाल-लाल पैरों पर लोट जाऊं। लेकिन इसके बाद पल-भर में ही बहुत अधिक लज्जा के कारण उसका सिर इस प्रकार नीचे झुक गया कि वह फिर सिर उठाकर अपनी प्रियतमा के मुख की ओर देख भी न सका और चुपचाप सिर झुकाए धीरे-धीरे चला गया।

रमणी की आज्ञानुसार नौकरानी फुटपाथ पर खड़ी हुई राह देख रही थी। वह पास आकर बोली—'अरे, तुम इस बेचारे को क्यों इस तरह नचाती फिरती हो? इसके पास कुछ है भी? चार पैसे मिल भी सकेंगे?'

रमणी ने हंसते हुए कहा—'सो तो नहीं जानती, पर इस तरह के बेवकूफों को नाक में नकेल पहनाकर चक्कर खिलाने में मुझे बड़ा मजा आता है।'

दासी ने कुछ देर तक खूब हंसने के बाद कहा—'यह भी तुम कर सकती हो! पर और चाहे जो कहो, देखने में किसी राजा का-सा लड़का मालूम होता है। जैसा बढ़िया चेहरा-मोहरा है, वैसा ही बढ़िया रंग भी है और तुम दोनों की जोड़ी भी खूब मिलती है। जब तुम खड़ी-खड़ी उससे बातें कर रही थीं, तब ऐसा मालूम होता था कि मानो एक जोड़ी गुलाब के फूल खिले हुए हैं!'

रमणी ने मुस्कराते हुए कहा—'अच्छा चल। अगर पसंद आ जाए, तो न हो तू ही ले लेना।'

पर नौकरानी भी सहज में हारने वाली नहीं थी। उसने भी उत्तर दिया—'दीदी, तुम यह चीज जीते-जी किसी को न दे सकोगी, यह मैं अभी से कहे देती हूं।'

4

ज्ञानियों का कथन है कि आंखों-देखी भी असंभव घटना किसी से मत कहो। कारण, अज्ञानी उस पर विश्वास नहीं करते! इसी अपराध में बेचारे श्रीमंत को (बंगला में कवि-कंकण श्री मुकुंदराम चक्रवर्ती का लिखा हुआ 'चण्डी काव्य' नाम का एक प्रसिद्ध ग्रंथ है, जिसमें 'श्रीमंत' नामक एक वणिक की कथा है। कहते हैं, एक व्यापारी जब व्यापार करने के लिए सिंहल जाने लगा तब उसकी स्त्री को चार मास का गर्भ था। चलते समय वह अपनी स्त्री से कह गया कि यदि मैं किसी कारण से लौटकर घर न आऊं तो तुम्हारे गर्भ से जो पुत्र उत्पन्न हो, उसी को मेरा पता लगाने के लिए सिंहल भेजना। इस व्यापारी ने सिंहल जाते हुए समुद्र में कमल पर बैठी हुई एक स्त्री को देखा और सिंहल पहुंचकर वहां के राजा से उस कमल-कामिनी का वर्णन किया। राजा ने कहा कि तुम मुझे उस कमल-कामिनी को दिखलाओ। वणिक राजा को अपने साथ लेकर गया, परंतु समुद्र में कहीं कमल-कामिनी न दिखाई पड़ी। इस पर राजा ने उसे कारागार में बंद कर दिया।

उस स्त्री के गर्भ से जो बालक उत्पन्न हुआ, उसका नाम 'श्रीमंत' रखा गया। वह बाल्यावस्था से ही चण्डी का भक्त था। अपने पिता का पता लगाने के लिए वह सिंहल को चल दिया। मार्ग में जब कभी उस पर कोई विपत्ति आती

थी, तब चण्डी प्रत्यक्ष दर्शन देकर उसकी रक्षा करती थी। उसे भी एक स्थान पर चण्डी उसी कमल-कामिनी रूप में दिखाई पड़ी। श्रीमंत ने सिंहल पहुंचकर अपने पिता का पता लगाया तो मालूम हुआ कि मेरे पिता यहां के राजा को कमल-कामिनी नहीं दिखा सके, इसी अपराध में कारागार में बंद कर दिए गए हैं। सोलह वर्ष के बालक श्रीमंत ने राजा से जाकर कहा कि मैंने भी वह कमल-कामिनी देखी है। राजा उसके साथ भी गया, परंतु कमल-कामिनी न दिखाई पड़ी। इस पर राजा ने आज्ञा दी कि इसका सिर काट डालो। जब वणिक का सिर काटने के लिए उसे श्मशान ले गए, तब चण्डी ने एक वृद्धा के रूप में प्रकट होकर श्रीमंत की रक्षा की, उसके पिता को कारागार से मुक्त कराया, श्रीमंत को राजा से सिंहल का आधा राज्य दिलवाया और अंत में राजकुमारी के साथ उसका विवाह करा दिया।) मसान जाना पड़ा था। जो हो, यह बात बिल्कुल ठीक है कि सत्य ने उस दिन घर लौटकर टेनिसन की कविताएं पढ़ी थीं और वह 'डान जुआन' का बंगला अनुवाद करने बैठा था। वह इतना बड़ा हो गया था, पर फिर भी उसके मन में जरा भी संदेह नहीं हुआ कि दिन-दहाड़े, इतने बड़े कोलकाता शहर की आम सड़क और घाट पर, ऐसे अद्‌भुत प्रेम की बाढ़ कैसे आ सकती है तथा उस बाढ़ की लहरों में डूबकर चलना उसके लिए कहां तक निरापद है!

दो दिन बाद जब दोनों फिर उसी तरह स्नान करके घर लौट रहे थे, तब रास्ते में उस अपरिचिता ने सहसा कहा—'कल रात को मैं थिएटर देखने गई थी। बेचारी सरला का त्रास देखकर छाती फटने लगी।'

सत्य ने सरला का नाटक तो नहीं देखा था, पर हां, 'स्वर्णलता' पुस्तक अवश्य पढ़ी थी, इसलिए उसने धीरे-से कहा—'हां, बेचारी बड़े कष्ट से मरी थी।'

उसने लंबी सांस लेकर कहा—'ओह, उसे कितना भीषण कष्ट हुआ था। तुम बतला सकते हो कि सरला ने अपने पति को इतना क्यों चाहा और उसकी जेठानी क्यों प्रेम नहीं कर सकी?'

सत्य ने संक्षेप में उत्तर दिया—'अपना-अपना स्वभाव।'

'हां, यही बात है। ब्याह तो सभी का होता है, पर क्या सभी स्त्रियां और पुरुष एक-दूसरे को समान रूप से प्रेम कर सकते हैं? नहीं। ऐसे बहुत-से लोग होते हैं जो मरते दम तक यह भी नहीं जानते कि प्रेम किसे कहते हैं। जानने की शक्ति ही उनमें नहीं होती। देखते नहीं, बहुत-से लोग ऐसे होते हैं जिनके सामने हजार अच्छा गाना-बजाना हुआ करे, पर फिर भी वे मन लगाकर नहीं सुन सकते और बहुत-से किसी बात से भी क्रोधित नहीं होते, क्रोध कर ही नहीं सकते। लोग उनकी तारीफ करते हैं, पर मेरा तो जी उनकी निंदा करने को ही चाहता है।'

सत्य ने कुछ मुस्कराते हुए पूछा—'क्यों?'

रमणी ने उद्दीप्त कंठ से उत्तर दिया—'इसलिए कि वे अक्षम होते हैं। अक्षमता में थोड़े-बहुत गुण भी हो सकते हैं; परंतु दोष ही अधिक हैं। यही जैसे सरला का जेठ। स्त्री के इतने बड़े अत्याचार से भी उसे क्रोध नहीं आया।'

सत्य चुप रहा, उसने फिर कहना आरंभ किया—'और उनकी स्त्री प्रमदा भी कैसी शैतान है! अगर मैं होती तो उस राक्षसी का गला ही घोंट देती।'

सत्य ने हंसते हुए कहा—'पर तुम होती कैसे? प्रमदा नाम की सचमुच कोई औरत तो थी नहीं, वह तो कवि की कल्पना मात्र....'

रमणी ने बीच में ही रोककर कहा—'तो फिर कवि ने ऐसी कल्पना ही क्यों की? अच्छा, सभी कहते हैं कि सब मनुष्यों के अंतःकरण में भगवान है, आत्मा है, परंतु प्रमदा का चरित्र देखने से तो नहीं मालूम होता कि उसके अंतर में भगवान थे। मैं तुमसे सच कहती हूं, वहां होना तो यह चाहिए कि बड़े-बड़े आदमियों की पुस्तकें पढ़कर लोग भले बनें और एक-दूसरे के साथ प्रेम करें, सो तो नहीं, एक ऐसी किताब, लिखकर रख दी कि जिसे पढ़ते ही मनुष्य के प्रति मनुष्य के मन में घृणा उत्पन्न हो जाए और इस बात पर विश्वास ही न हो कि सचमुच ही सब लोगों के अंतःकरण में भगवान का मंदिर है।'

सत्य ने विस्मित होकर उसके मुख की ओर देखते हुए कहा—'मैं देखता हूं कि तुम खूब किताबें पढ़ती हो?'

रमणी ने उत्तर दिया—'अंगरेजी तो जानती नहीं, पर हां, बंगला की जितनी किताबें निकलती हैं, सभी पढ़ती हूं। कभी-कभी तो ऐसा होता है कि मैं सारी-सारी रात पढ़ती ही रहती हूं। यह तो बड़ी सड़क है, चलो न, मेरे मकान पर जितनी किताबें हैं, सब तुमको दिखलाऊंगी।'

सत्य ने चौंककर पूछा—'तुम्हारे मकान पर?'

वह बोली—'हां, मेरे मकान पर। चलो, तुम्हें चलना पड़ेगा।'

हठात् सत्य का चेहरा पीला पड़ गया। उसने डरते हुए कहा—'नहीं-नहीं। छीः-छीः....'

'छीः-छीः कुछ नहीं। चलो।'

'नहीं-नहीं, आज नहीं, आज रहने दो।'

इतना कहकर सत्य कांपते हुए पैरों से शीघ्रतापूर्वक चल दिया। आज उसे अपनी इस अपरिचिता प्रेमिका के प्रति श्रद्धा उत्पन्न हो गई, जिसके भार से उसका हृदय अवनत हो गया।

5

सवेरे गंगा-स्नान करके सत्य धीरे-धीरे अपने डेरे पर लौट आया था। उसकी दृष्टि क्लांत और सजल थी। उसकी पलकें अभी तक भीगी हुई थीं। आज चार दिन हो गए हैं, वह अपनी उस अपरिचिता प्रियतमा को नहीं देख पाया। आजकल वह गंगा-स्नान करने नहीं आती।

इधर कई दिन से उसने आकाश-पाताल की न जाने कितनी बातें सोची हैं, उनकी सीमा ही नहीं। बीच-बीच में उसके मन में यह दुश्चिंता भी उत्पन्न हुई कि कहीं ऐसा न हो कि वह इस संसार में ही न रह गई हो अथवा कहीं ऐसा न हो कि वह मृत्यु-शय्या पर पड़ी हो, न जाने उसे क्या हुआ?

वह उस गली को तो जानता था, पर और कुछ भी नहीं पहचानता था। किसका मकान है और वह कहां है, यह कुछ नहीं जानता था। याद करने से पश्चात्ताप और आत्म-ग्लानि के कारण हृदय दग्ध हुआ जाता था। क्यों न मैं उस दिन साथ जाकर मकान देख आया? क्यों मैंने उस दिन इतने बड़े अनुरोध की उपेक्षा की?

उसे सचमुच ही प्रेम हो गया था और वह सिर्फ आंखों का नशा नहीं, हृदय की गहरी प्यास थी। उसमें छल या कपट की कहीं छाया भी नहीं थी, जो-कुछ था, वह सचमुच ही हार्दिक स्नेह था।

'बाबूजी!'

सत्य ने चौंककर देखा कि उसकी वह दासी, जो साथ आया करती थी, रास्ते के एक किनारे खड़ी हुई है।

सत्य कुछ घबराया हुआ जल्दी से उसके पास जा पहुंचा और भर्राई हुई आवाज में उसने पूछा—'उन्हें क्या हुआ?' और तत्काल ही वह रो पड़ा, अपने-आप को संभाल ही न सका। दासी ने सिर झुकाकर किसी प्रकार अपनी हंसी छिपाई। शायद उसने इस डर से कि कहीं मुझे सत्य के सामने ही जोर से हंसी न आ जाए, सिर झुकाए हुए ही कहा—'उनकी तबीयत बहुत खराब है, वह आपको देखना चाहती हैं।'

'अच्छी बात है। चलो।'

यह कहकर सत्य आंसू पोंछता हुआ उसके पीछे-पीछे चल दिया। कुछ दूर बढ़कर उसने दासी से पूछा—'क्या बीमारी है? क्या बहुत ज्यादा बढ़ गई है।'

दासी ने कहा—'नहीं, कोई बड़ी बीमारी तो नहीं है, पर बुखार तेज है।'

सत्य ने मन-ही-मन ईश्वर को मनाया और दासी से फिर कोई प्रश्न नहीं किया। मकान के सामने पहुंचकर देखा कि मकान बहुत बड़ा है और उसके दरवाजे पर एक हिंदुस्तानी दरबान बैठा हुआ ऊंघ रहा है। दासी से पूछा—'मेरे जाने से उनके पिता नाराज तो न होंगे? वे मुझे पहचानते नहीं।'

दासी ने कहा—'उनके पिता नहीं है खाली मां हैं। पर उनकी तरह उनकी मां भी आपको बहुत प्यार करती हैं।'

सत्य ने और कुछ कहे बिना उस मकान में प्रवेश किया।

सीढ़ियां पार करके तीसरी मंजिल के बरामदे में पहुंचकर उसने देखा कि बराबर-बराबर तीन कमरे हैं और बाहर से देखने पर सभी खूब सजे हुए जान पड़ते हैं। कोने वाले कमरे में से जोर की हंसी के साथ तबले और घुंघरुओं के बजने की आवाज आ रही है। दासी ने उसकी तरफ हाथ से इशारा करके कहा—'यह कमरा है, अंदर चलिए।'

इतना कहकर दासी कुछ और आगे बढ़ी और उसने दरवाजे के आगे पड़ा हुआ परदा हाथ से हटाते हुए खूब ऊंची आवाज में कहा—'लो दीदी, ये हैं तुम्हारे नागर!'

कमरे में जोर का ठहाका लगा और शोर मच गया। वहां सत्य ने जो-कुछ देखा उससे उसका सिर चकरा गया। उसे ऐसा जान पड़ा कि हठात् मैं बेहोश होकर गिरना चाहता हूं। किसी प्रकार चौखट का सहारा लेकर और आंखें बंद करके वह वहीं दरवाजे पर बैठ गया।

उस कमरे में तख्त पर खूब मोटा गद्दा बिछा था और उस पर दो-तीन आदमी बैठे हुए थे जो देखने में भले आदमी-से जान पड़ते थे। एक हारमोनियम और दूसरा तबला रखे बैठा था। एक आदमी खूब मजे में शराब पी रहा था। ऐसा जान पड़ता था कि वह युवती अभी नाच रही थी। उसके दोनों पैरों में घुंघरू बंधे हुए थे, सारा शरीर नाना गहनों से सजा हुआ था और उसकी सुरा-राग-रंजित आंखें झूम रही थीं। वह जल्दी से सत्य के पास आ पहुंची और उसका हाथ पकड़कर खूब खिलखिलाकर हंसती हुई

बोली—'अरे यार, कहीं मिरगी की बीमारी तो नहीं है?—लो भाई, आज मजाक रहने दो, उठो, मुझे इससे बड़ा डर लगता है।'

जिस प्रकार कोई हत-चेतन मनुष्य प्रबल विद्युत के स्पर्श से कांप उठता है, ठीक उसी प्रकार उस युवती के कर-स्पर्श से सत्य भी सिर से पैर तक कांप उठा।

रमणी ने कहा—'मेरा नाम है श्रीमती बिजली, और क्यों दोस्त, तुम्हारा क्या नाम है 'हाबू-गाबू?'

सब लोग खूब जोर से ठठाकर हंस पड़े और वह दासी तो हंसती-हंसती जमीन पर ही लोट गई, बोली—'वाह दीदी, तुम भी खूब रंग लाना जानती हो!'

बिजली ने कुछ बनावटी क्रोध दिखलाते हुए बिगड़कर कहा—'चुप रह। बहुत बढ़-चढ़कर बातें न किया कर।' और तब सत्य से कहा—'आइए, यहां आकर बैठिए। इतना कहकर बिजली सत्य को जोर से खींचती हुई लाई और एक कुरसी पर बैठाकर स्वयं घुटनों के बल उसके पैरों के पास बैठ गई और हाथ जोड़कर गाने लगी—

आजु रजनि हम, भाग्ये पोहायेनु; पेखनु पिय मुखचंदा।
जीवन-यौवन सफल-करि माननु, दसदिसि भेल निरदंदा।
आजु मन गेह, गेहकरि माननु, आजु मम देह मेल देहा।
आजु विधि मोहे, अनुकूल होयल, टूटल सबहु संदेहा।
पांच बान—अब लाख बान हउ, मलय-पवन बहु मंदा।
अब सो न चबहुं मोहे परिहोयत तबहुं मानव निज देहा।

उस आदमी ने, जो शराब पी रहा था, उठकर सत्य के पैरों के पास आकर साष्टांग प्रणाम किया। वह नशे में चूर था, रोता हुआ बोला—'महाराज, मैं बड़ा पातकी हूं, मुझे अपने चरणों की थोड़ी-सी रज—'

अदृष्ट की विडंबना से सत्य ने आज स्नान करने के बाद एक गरद की धोती पहन रखी थी।

जो आदमी हारमोनियम बजा रहा था, वह अभी तक बहुत-कुछ होश में था। उसने कुछ सहानुभूति दिखलाते हुए कहा—'क्यों बेचारे का झूठ-मूठ तमाशा बना रही हो?'

बिजली ने हंसते हुए कहा—'वाह, झूठ-मूठ कैसे? यह सचमुच का तमाशा है, तभी तो ऐसे मजे के दिन यहां लाकर तुम लोगों को तमाशा दिखला रही हूं—अच्छा गाबू, तुम्हें मेरे सिर की कसम है, सच तो बतला दो कि तुमने मुझे क्या समझा था? मैं नित्य गंगा-स्नान करने जाती हूं, इसलिए न तो मैं ब्राह्मण हूं, न मुसलमान और न ईसाई। तब हिंदू के घर की इतनी बड़ी लड़की देखकर तुम्हें समझना चाहिए था कि या तो मैं सधवा हूं या विधवा। भला बतलाओ तो कि फिर तुम क्या समझकर मुझसे प्रीति लगाने चले थे? मुझसे ब्याह करना चाहते थे या भुलाकर कहीं उड़ा ले जाना चाहते थे?'

फिर खूब जोर का ठहाका लगा। इसके बाद सब मिलकर न जाने क्या-क्या कहने लगे। सत्य ने न तो सिर ही उठाया और न किसी का कोई जवाब ही दिया। वह मन-ही-मन क्या समझ रहा था, यह बतलाता ही किस तरह और बतलाने पर उसे मानता ही कौन? खैर, जाने दो इस बात को।

बिजली सहसा चकित होकर उठ खड़ी हुई और बोली—'वाह, मैं भी खूब हूं। अरे ओ श्यामा, जा, जल्दी जा, बाबू साहब के वास्ते कुछ जल-पान तो ले आ। बेचारे स्नान करके आए हैं और मैं अब तक सिर्फ मजाक ही कर रही हूं।' बोलते-बोलते ही कुछ समय पूर्व का उसका व्यंग्य और उपहास की अग्नि से उत्तप्त स्वर स्नेहयुक्त अकृत्रिम अनुपात से सचमुच ही बिल्कुल ठंडा पड़ गया।

थोड़ी ही देर में दासी ने एक थाली में जल-पान का बहुत-सा सामान लाकर उपस्थित कर दिया। बिजली उसे अपने हाथ में लेकर सत्य के सामने घुटनों के बल बैठ गई और बोली—'अच्छा, लो, मुंह ऊपर करो, कुछ खा लो।'

सत्य अभी तक अपनी सारी शक्ति एकत्र करके अपने-आप को संभाल रहा था। अब उसने सिर उठाकर शांत भाव से कहा—'मैं नहीं खाऊंगा।'

'क्यों, क्या तुम्हारी जात चली जाएगी? मैं क्या कोई भंगिन हूं या मोचिन?'

सत्य वैसे ही शांत स्वर से बोला—'अगर आप वह होतीं तो मैं खा लेता। लेकिन आप जो-कुछ हैं, वह हैं।' बिजली ने खिलखिलाकर हंसते हुए कहा, 'देखती हूं कि हाबू बाबू भी छुरी-कटारी चलाना जानते हैं!'

यह कहकर बिजली फिर हंसी। किंतु उसकी वह हंसी केवल शब्द ही शब्द थी, हंसी नहीं थी। इसीलिए उस हंसी में और कोई साथ नहीं दे सका।

सत्य ने कहा—'मेरा नाम सत्य है, बाबू नहीं। मैंने कभी छुरी-कटारी चलाना तो नहीं सीखा; परंतु अपनी भूल का पता लगने पर उसे सुधारना अवश्य सीखा है।'

बिजली हठात् कुछ और कहना चाहती थी, किंतु उसे रोककर अंत में बोली, 'क्या तुम मेरा छूआ नहीं खाओगे?'

बिजली उठकर खड़ी हो गई। इस बार उसके परिहास के स्वर में कुछ तीव्रता आ गई। उसने कुछ जोर

देकर कहा—'तुम खाओगे जरूर, यह मैं कहे देती हूं। आज नहीं तो कल, और नहीं दो दिन बाद, पर खाओगे जरूर।'

सत्य ने गरदन हिलाकर कहा—'देखिए, भूल सभी से हुआ करती है और मेरी भूल कितनी बड़ी है, यह सब समझ गए हैं। लेकिन आपसे भी भूल हो रही है। मैं कहता हूं कि आज नहीं, कल नहीं और चार दिन बाद भी नहीं, इस जन्म में नहीं और अगले जन्म में भी नहीं....मैं आपका छूआ नहीं खाऊंगा। मुझे आज्ञा दीजिए, मैं जाऊं।....आपके निःश्वास से मेरा रक्त सूखा जाता है।'

उसके मुख पर गहरी घृणा की एक ऐसी स्पष्ट छाया दीख पड़ी कि वह उस शराबी की आंखों से भी छुपी न रही। उसने सिर हिलाते हुए कहा—'बिजली बीबी, यह 'अरसिकेषु रहस्य-निवेदनम्' है! जाने दो,....जाने दो। इसने तो सबेरे का सारा ही मजा किरकिरा कर दिया।'

बिजली ने कोई उत्तर नहीं दिया, वह स्तंभित होकर सत्य के मुंह की ओर देखती हुई खड़ी रही। सचमुच उससे बहुत बड़ी भूल हो गई थी। उसने कल्पना भी नहीं की थी कि ऐसा मुंह-चोर और शांत आदमी इस तरह बोल सकता है।

सत्य अपना आसन छोड़कर उठ खड़ा हुआ। बिजली ने कोमल स्वर में कहा—'थोड़ी देर और बैठो।'

यह सुनते ही वह शराबी चिल्ला उठा—'ऊं हूं हूं! अभी पहली चोट में जरा जोर दिखलाएगा, अभी जाने दो। डोर ढीली कर दो, डोर ढीली कर दो।'

सत्य कमरे से बाहर निकल आया। बिजली ने पीछे से जाकर उसका रास्ता रोक लिया और धीरे से कहा—'वे लोग देख लेते, नहीं तो मैं उसी समय हाथ जोड़कर तुमसे कहती कि मेरा बहुत बड़ा अपराध हुआ है।'

सत्य ने कोई उत्तर न दिया और मुंह फेर लिया।

बिजली ने फिर कहा—'यह बगल वाला कमरा मेरे पढ़ने-लिखने का है। जरा-सा चलकर उसे देख न लो! उसे जरा अंदर चलकर एक बार देख लो, मैं तुमसे माफी मांगती हूं।'

सत्य 'नहीं' कहकर सीढ़ी की तरफ बढ़ा। बिजली ने उसके पीछे-पीछे चलते हुए पूछा—'कल मुलाकात होगी?'

'नहीं।'

'क्या और कभी मुलाकात न होगी?'

'नहीं।'

रुलाई के मारे बिजली का गला भर आया। थूक निगलकर, जोर लगाकर और गला साफ करके उसने कहा—'मुझे विश्वास नहीं होता कि अब मुलाकात न होगी। फिर भी यदि न हो तो बोलो, क्या तुम मेरी एक बात पर विश्वास करोगे?'

उनका भग्न स्वर सुनकर सत्य विस्मित हुआ लेकिन इधर पंद्रह-सोलह दिनों से जो अभिनय वह देखता आ रहा था, उसके मुकाबले में तो यह कुछ भी नहीं था। तो भी वह मुंह फेरकर खड़ा हो गया। उसके मुख की प्रत्येक रेखा पर अविश्वास के चिह्नों को पढ़कर बिजली की छाती फट गई। पर वह करती ही क्या? हाय-हाय! विश्वास दिलाने के समस्त उपाय ही उसने अपने हाथों कूड़े के समान झाड़-पोंछकर फेंक दिए थे।

सत्य ने पूछा—'किस बात पर विश्वास करूं?'

बिजली के ओठ तो फड़के, पर उनसे आवाज न निकली। उसने आंसुओं के भार से दबी हुई आंखें एक बार पल-भर के लिए ऊपर उठाईं और फिर पहले की तरह नीची कर लीं। सत्य ने भी यह देख लिया—पर आंसू भी क्या नकली नहीं होते? बिजली ने सिर उठाए बिना ही समझ लिया कि सत्य प्रतीक्षा कर रहा है। पर उस बात को वह किसी तरह भी मुंह से न निकाल सकती थी, जो बाहर निकलने के लिए कलेजे के अंजर-पंजर ढीले किए डालती थी।

वह उसे प्यार करने लगी थी और ऐसा प्यार करने लगी थी जिसका एक कण भी सार्थक करने के लोभ में यदि संभव होता तो वह अपने रूप के भंडार—शरीर को भी शायद एक सड़े-गले वस्त्र के समान त्याग दे सकती। पर उस पर विश्वास कौन करेगा? वह दागी आसामी जो थी। अपने सारे शरीर में अपराध के करोड़ों चिह्न रखते हुए, विचार के सामने खड़ी होकर, वह किस मुंह से यह बात कहती कि यद्यपि अपराध करना ही मेरा पेशा है, फिर भी इस बार मैं निर्दोष हूं? ज्यों-ज्यों विलंब होने लगा त्यों-त्यों ही उसे बोध होने लगा कि विचारक मुझे फांसी की आज्ञा देने वाला ही है। पर वह उसे रोके कैसे? सत्य अधीर हो उठा था, बोला—'अब जाता हूं।'

बिजली सिर तो ऊंचा न कर सकी, पर इस बार उसके मुंह से बात निकली। उसने कहा—'जाओ। लेकिन सिर से पैर तक अपराधों में डूबी होने पर भी मैं जिस बात पर विश्वास करती हूं, उस पर अविश्वास करके तुम अपराधी मत बनना। विश्वास रखो कि सभी के शरीर में

भगवान निवास करते हैं और जब तक मृत्यु नहीं हो जाती, तब तक वे उसे छोड़कर नहीं जाते।'

कुछ देर चुप रहकर फिर बोली—'यह ठीक है कि सभी मंदिरों में देवता की पूजा नहीं होती, लेकिन फिर भी उनमें रहने वाले देवता ही होते हैं। उन्हें देखकर सिर भले ही न नवा सको, किंतु ठुकराकर भी नहीं जा सकते।'

यह कहकर जब उसने पैरों की आहट से सिर उठाकर देखा, तब सत्य चुपचाप धीरे-धीरे चला जा रहा था।

स्वभाव के विरुद्ध विद्रोह किया जा सकता है, पर उसे बिल्कुल उड़ाया नहीं जा सकता। नारी-शरीर पर सैकड़ों अत्याचार किए जा सकते हैं, पर नारीत्व को तो अस्वीकार नहीं किया जा सकता? बिजली नर्तकी है, फिर भी नारी तो है! जन्म-भर सहस्रों अपराध करने के कारण अपराधी होने पर भी उसका यह देह नारी-देह ही तो है! कोई घंटे-भर बाद जब वह अपने कमरे में लौट आई तब उसकी लांछित अर्द्धमृत नारी प्रकृति अमृत के स्पर्श से जाग उठी थी। इस थोड़े-से समय में ही उसके सारे शरीर में जो अद्‌भुत परिवर्तन हो गया था, उसका पता उस शराबी तक को चल गया। उसने अंत में मुंह खोलकर कह ही डाला—'क्यों बाईजी, तुम्हारी आंखों की पलकें तो भीगी हुई हैं! दैया रे, यह लड़का भी कैसा जिद्दी है कि ऐसी बढ़िया चीजें भी उसने मुंह में न डालीं।....अच्छा लाओ तो जी, थाली जरा इधर बढ़ा दो।'

यह कहकर शराबी खुद ही थाली खींचकर निगलने लगा।

लेकिन उसकी एक बात भी बिजली के कानों में न गई। अचानक जब उसकी नजर अपने पैरों की तरफ गई, तब उसे ऐसा जान पड़ा कि उनमें बंधे हुए घुंघरुओं के तोड़ों ने मानो बिच्छुओं की तरह डंक निकालकर उसके दोनों पैरों में काट खाया है। उसने उन्हें जल्दी से खोलकर फेंक दिया।

एक ने पूछा—'घुंघरू खोल दिए?'

बिजली ने सिर उठाकर कुछ मुस्कराते हुए कहा—'हां, अब मैं इन्हें नहीं पहनूंगी।'

'इसका मतलब?'

'मतलब यही कि न पहनूंगी। बाईजी मर गई!'

शराबी मिठाई खा रहा था। बोला—'आखिर बीमारी क्या हुई?'

बिजली को हंसी आ गई। यह वही हंसी थी। उसने हंसते हुए कहा—'जिस बीमारी से दीए के जलने पर अंधकार मर जाता है और सूर्य के निकलने से रात मर जाती है, आज उसी बीमारी से तुम लोगों की बाईजी सदा के लिए मर गई।'

6

चार बरस बाद की बात है। कोलकाता के एक आलीशान मकान में एक बड़े जमीदार के लड़के का अन्न-प्राशन है। खिलाने-पिलाने का विराट काम-काज खत्म हो चुका है। संध्या के बाद मकान के बाहर वाले प्रशस्त आंगन में महफिल का इंतजाम किया गया है। अनेक प्रकार के आमोद-प्रमोद और नाच-गान का आयोजन हो रहा है।

एक तरफ तीन-चार नर्तकियां बैठी हैं। यही नाचेंगी और गाएंगी। दूसरी मंजिल के बरामदे में चिक की आड़ में बैठी हुई अकेली राधारानी नीचे आए हुए लोगों को देख रही है। निमंत्रित स्त्रियों का अभी तक शुभागमन नहीं हुआ है।

सत्येंद्र ने चुपचाप पहुंचकर धीरे-से पूछा—'इतने ध्यान से क्या देख रही हो?'

राधारानी ने अपने स्वामी के मुख की ओर देखकर हंसते हुए कहा—'वही, जो सब लोग देखने के लिए आ रहे हैं। जो बाईजी आई हुई हैं, उन्हीं की सज-धज देख रही हूं। लेकिन, तुम अचानक यहां कैसे आ गए?'

स्वामी ने हंसते हुए उत्तर दिया—'तुम यहां अकेली बैठी हो, इसीलिए कुछ बातचीत करने आ गया।'

'चलो, जाओ!'

'सच कहता हूं। अच्छा, यह तो बतलाओ कि इन सबमें तुम्हें कौन पसंद है?'

राधारानी ने 'वह' कहकर उंगली से उस स्त्री की ओर इशारा किया, जो सबसे पीछे बहुत ही सादी पोशाक में बैठी हुई थी।

सत्य ने कहा—'वह तो बहुत ही दुबली-पतली रोगिणी-सी है।'

'हो,' पर वही सबसे अधिक सुंदरी है। पर बेचारी गरीब मालूम होती है, बदन पर औरों की तरह गहने नहीं हैं।'

सत्येंद्र ने सिर हिलाकर कहा—'होगी! लेकिन जानती हो कि इन लोगों की मजूरी क्या है?'

'नहीं।'

सत्येंद्र ने हाथ से दिखलाते हुए कहा—'इन दोनों को तो तीस-तीस रुपये देने होंगे, उसे पचास देने होंगे, और

जिसे तुम सबसे गरीब बतलाती हो, वह दो सौ रुपये लेगी।'

राधारानी ने चौंककर पूछा—'दो सौ! क्यों, क्या वह बहुत अच्छा गाती है?'

'गाना कभी सुना तो नहीं। लोग कहते हैं कि आज से चार-पांच बरस पहले बहुत अच्छा गाती थी, पर नहीं कहा जा सकता कि अब अच्छा गा सकेगी या नहीं?'

'तो इतने रुपये देकर बुलवाया ही क्यों?'

'इससे कम पर वह आती ही नहीं। इतने पर भी आने के लिए राजी नहीं थी, बहुत मुश्किलों से मना-मुनूकर बुलवाई गई है।'

राधारानी ने और भी अधिक विस्मित होकर पूछा—'रुपया देना और फिर मनाना कैसा?'

सत्येंद्र ने पास पड़ी हुई एक कुरसी खींच ली और उस पर बैठकर कहा—'पहली बात तो यह है कि आजकल उसने यह पेशा छोड़ दिया है। उसमें गुण चाहे जितने हों, पर इतने रुपये जल्दी कोई देना नहीं चाहता और इसलिए, उसे कहीं आना-जाना नहीं पड़ता। यही उसकी चाल है। और दूसरा कारण है मेरी खुद की गरज।'

इस बात पर राधारानी को विश्वास नहीं हुआ। फिर भी आग्रह के मारे उसने कुछ आगे खिसक आकर कहा—'तुम्हारी गरज तो क्या खाक होगी; लेकिन यह तो बतलाओ, उसने पेशा क्यों छोड़ दिया है?'

'सुनोगी?'

'हां, कहो।'

सत्येंद्र ने क्षण-भर चुप रहने के बाद कहा—'इसका नाम बिजली है। किसी समय....लेकिन रानी, यहां अभी और लोग आ जाएंगे, अंदर चलोगी?'

'चलो, चलो।' कहकर राधारानी तुरंत उठ खड़ी हुई।

❖ ❖ ❖

अपने स्वामी के चरणों के पास बैठकर राधारानी ने सब बातें सुनकर आंचल से अपनी आंखें पोंछ लीं और अंत में कहा—'इसीलिए आज उसका अपमान करके बदला लोगे? तुम्हें यह अक्ल भला किसने दी?'

उधर स्वयं सत्येंद्र की आंखें भी सूखी नहीं थीं। बातें करते समय कई बार उसका गला भी भर आया था। उसने कहा—'हां, अपमान तो है, पर हम तीनों आदमियों के सिवा और कोई इसे न जान सकेगा। किसी को खबर भी न होगी।'

राधारानी ने उत्तर नहीं दिया। एक बार और आंचल से अपनी आंखें पोंछकर वह बाहर चली गई।

निमंत्रित भले आदमियों से सारी महफिल भर गई थी और ऊपर वाले बरामदे से बहुत-सी स्त्रियों के सलज्ज चीत्कार चिक का आवरण भेदकर बाहर निकल रहे थे। और सब नर्तकियां तो प्रस्तुत हो गई थीं, पर बिजली अभी तक सिर झुकाए चुपचाप बैठी हुई थी। उसकी आंखों से आंसू बह रहे थे। उसने पहले जो धन एकत्र किया था, वह इधर लंबे पांच बरसों में समाप्त हो चुका था और उसी के अभाव की मार से आज उसे विवश होकर वही कार्य स्वीकार करना पड़ा, जिसका वह शपथपूर्वक त्याग कर चुकी थी। लेकिन वह सिर उठाकर खड़ी नहीं हो सकती थी। अभी दो घंटे पहले उसे इस बात की कल्पना भी नहीं थी कि अपरिचित पुरुषों की सतृष्ण दृष्टि के सामने मेरा शरीर इस प्रकार पत्थर की तरह भारी हो जाएगा और पैर इस प्रकार भंजकर टूट जाना चाहेंगे।

'आपको बुला रही हैं।'

बिजली ने सिर उठाकर देखा कि बारह-तेरह बरस का एक लड़का पास ही खड़ा है। उसने ऊपर वाले बरामदे की ओर संकेत करके फिर कहा—'बहूजी आपको बुला रही हैं?'

बिजली को विश्वास नहीं हुआ। उसने पूछा—'कौन बुलाता है?'

'बहूजी बुलाती हैं।'

'तुम कौन हो?'

'मैं उनका नौकर हूं।'

बिजली ने सिर हिलाकर कहा—'नहीं, मुझे नहीं बुलाती होंगी, तुम फिर जाकर एक बार पूछ आओ।'

लड़का थोड़ी देर बाद फिर आकर बोला—'आपका ही नाम बिजली है न? आपको ही बुला रही हैं। आइए मेरे साथ, बहूजी खड़ी हैं।'

बिजली ने जल्दी से अपने पैरों के घुंघरू खोल दिए और वह उस लड़के के पीछे-पीछे मकान के अंदर चली गई। उसने समझा कि शायद मालकिन की कोई खास फरमाइश है, इसीलिए मुझे बुलाया है।

सोने के कमरे के दरवाजे के पास राधारानी लड़के को गोद में लिए हुए खड़ी थी। कुछ तो घबराहट से और कुछ संकोच से धीरे-धीरे ज्यों ही बिजली उसके सामने जाकर खड़ी हुई, त्यों ही राधारानी आदरपूर्वक हाथ पकड़कर उसे

अंदर खींच ले गई और एक कुरसी पर उसे जबरदस्ती बैठाते हुए हंसकर बोली—'बहन, मुझे पहचान सकती हो?'

बिजली आश्चर्य से हतबुद्धि हो रही। राधारानी ने अपनी गोद के लड़के को दिखलाते हुए कहा—'अगर तुमने अपनी छोटी बहन को नहीं पहचाना, तो इसका तो खैर कोई दुख नहीं। लेकिन अगर इसे भी न पहचान सकोगी, तो मैं समचुच ही तुमसे बहुत लड़ाई करूंगी। और इतना कहकर वह मुस्कराने लगी।

इस प्रकार की मुस्कराहट देखकर भी बिजली के मुंह से कोई बात न निकल सकी। फिर भी उसका अंधकारपूर्ण आकाश धीरे-धीरे स्वच्छ होने लगा। उस अनिंद्य-सुंदर मातृ-मुख से हटकर उस ताजे खिले हुए गुलाब के समान शिशु के मुख की ओर उसकी टकटकी लग गई। राधारानी निस्तब्ध हो रही। फिर सहसा उसने खड़े होकर दोनों हाथ पसारकर उस बालक को अपनी गोद में ले लिया और उसे जोर से अपने कलेजे से लगाकर वह रो पड़ी।

राधारानी ने पूछा—'क्यों बहन, पहचान लिया?'

'हां बहन, पहचान लिया।'

राधारानी ने कहा—'बहन, समुद्र-मंथन करके उसमें से निकाला हुआ विष तो स्वयं पी लिया और समस्त अमृत अपनी इस छोटी बहन को दे दिया। उन्होंने तुम्हें चाहा था, इसीलिए मैं उन्हें पा सकी हूं।'

सत्येंद्र का एक छोटा-सा फोटो अपने हाथ में लेकर बिजली टकटकी लगाकर देख रही थी। उसने सिर उठाकर मुस्कराते हुए कहा—'बहन, विष-का-विष ही तो अमृत है। पर मैं भी वंचित नहीं हुई हूं। उस विष ने इस घोर पापिष्ठा को भी अमर कर दिया है।'

राधारानी ने उसकी इस बात का कोई उत्तर न देकर कहा, 'क्यों बहन, एक बार उनसे मुलाकात करोगी?'

बिजली ने क्षण-भर तक आंखें बंद करके स्थिर होकर कहा—'नहीं बहन, चार बरस पहले जिस दिन वे इस अस्पृश्या को पहचानकर मारे घृणा के मुंह फेरकर चले आए, उस दिन मैंने दर्प के साथ कहा था कि फिर मुलाकात होगी और तुम फिर आओगे। पर मेरा वह दर्प नहीं रहा, वे फिर नहीं आए। पर आज मेरी समझ में आ रहा है कि क्यों दर्पहारी भगवान ने मेरा वह दर्प तोड़ दिया। बहन, वे तोड़कर किस प्रकार फिर से गढ़ देते हैं और छीनकर किस प्रकार लौटा देते हैं, इसे जितनी अच्छी तरह मैं जानती हूं और कोई नहीं जानता।' एक बार और आंचल से अच्छी तरह आंखें पोंछकर वह बोली, 'मैंने अत्यधिक हार्दिक कष्ट के कारण भगवान को निर्दय, निष्ठुर कहकर अनेक दोष दिए हैं; परंतु अब मैं समझ रही हूं कि इस पापिष्ठा पर उन्होंने कितनी दया की है। यदि वे मुझे उन्हें लौटा ला देते, तो मैं सब तरफ से मिट्टी हो जाती। उन्हें भी न पाती और खुद को भी खो देती।'

राधारानी का गला रोने से रुंध गया था, इसलिए वह कुछ भी न कह सकीं, बिजली फिर कहने लगी—'सोचा था कि यदि कभी मुलाकात होगी, तो उनके पैर पकड़कर फिर एक बार माफी मांग देखूंगी। लेकिन अब इसकी कोई आवश्यकता नहीं रही। बहन, मुझे केवल यह चित्र दे दो। इससे अधिक मैं और कुछ नहीं चाहती। अगर चाहूं भी, तो भगवान को सहन न होगा।....अच्छा, अब मैं जाती हूं।' यह कहकर बिजली खड़ी हो गई।

राधारानी ने भर्राए हुए स्वर में पूछा—'अब फिर कब भेंट होगी बहन?'

'नहीं, अब भेंट नहीं होगी बहन। मेरा एक छोटा-सा मकान है, उसे बेचकर जितनी जल्दी हो सकेगा, यहां से चली जाऊंगी। पर बहन, क्या एक बात बतला सकोगी? आखिर इतने दिनों बाद हठात् उन्होंने क्यों मुझे एकाएक स्मरण किया। और जब उनका आदमी मुझे बुलाने गया तब क्यों उसने एक झूठा नाम बतलाया?'

मारे लज्जा के राधारानी का मुख लाल हो गया और वह सिर झुकाकर चुप रह गई।

बिजली ने कुछ देर तक सोचने के बाद कहा—'मैं समझ गई। मेरा अपमान करना चाहते थे, इसलिए? है न यही बात? इसके सिवा और तो कोई कारण नहीं मालूम होता कि क्यों उन्होंने इस प्रकार मुझे यहां बुलाने के लिए इतनी चेष्टा की।'

राधारानी का सिर और भी नीचे झुक गया। बिजली ने हंसकर कहा—'बहन, इसमें तुम्हारे लज्जित होने की कौन-सी बात है? लेकिन उनकी भी भूल है। उनके चरणों में मेरे शत-कोटि प्रणाम जताकर कह देना कि यह बात होने की नहीं। अब अपना कहलाने लायक मेरे पास कुछ है ही नहीं तब यदि वे अपमान करेंगे, तो सारा अपमान स्वयं उन्हीं का होगा।'

'अच्छा बहन, नमस्कार।'

'बहन, नमस्कार। मैं अवस्था में तुमसे बहुत बड़ी हूं, फिर भी तुम्हें आशीर्वाद देने का अधिकार मुझे नहीं है।....मैं काय-मन से ईश्वर से प्रार्थना करती हूं बहन, तुम्हारे हाथ की चूड़ियां अक्षय हों। जाती हूं।' ❖

हरीश भादानी की कविताएं

आकाशवासी
अग्निपिंड ही मानूं तुझे
तब क्यों करूं
मैं तेरी प्रार्थना?

अलग मानूं जो
तुझसे स्वयं को
तब क्यों करूं
मैं तेरी प्रार्थना?

तू न हो तो
नाद या फिर शब्द कैसा?
तू नहीं जो
बीज धरती में,
बता फिर मेरी देह कैसी?
मेरा अन्न-ब्रह्म कैसा?
यह माटी
मेरी धाय कैसी?
मेरी इस धाय का संसार तुझसे है
बता फिर क्यों करूं
मैं तेरी प्रार्थना?
आलाप का अ ही नहीं
फिर कैसी, किसकी प्रार्थना?

सुने है न तू
मैं तो तेरी
अंशिनी का ही अंशी हूं
इसमें से होती हुई तो
मुझमें ही धड़के है,
इसे ही लेकर
मैं रचूं हूं बिंब और प्रतिबिंब
इससे ही लेकर बोल
मैंने ही कहा है—

तू सप्तपर्णी है,
तू ही मार्तंड,
तू ही उषा है,
तू मेरे लिए है।

मधुवंती हो
मधरी-मधरी बहें हवाएं,
सबकी सांस-सांस मीठी हो,

कलकलती सरिताओं में भी
बहे सदा मिसरी-सा पानी,
पी-पी कर भी रहें अधापे,

धान-ओषधि सबको लगे
बताशों जैसी।
तारों से दिपदिपती रातें,
लजवंती अरुणाभा,
दोपहरी, संध्या वेलाएं
सभी भावतामय हो!

माटी का कण-कण भी
ममता जैसा रहे रसीला,
पोषे अंतर्पुरुष पिता वह सबको ही रसमसता,

पहनें, लगे धूप रसवंती
रस-घट लगे सभी को सूरज,
किरणें परसा करें सभी को
जैसे गाएं अभी-अभी जन्मे बछड़ों को
कहता-कहता बहीभाट थक जाए
सारा-का-सारा गोकुल ही
ऐसा रस-विस्मय हो!

ऋग्वेद (1-90-6-7-8)
पर आधारित

❖❖

शीलन

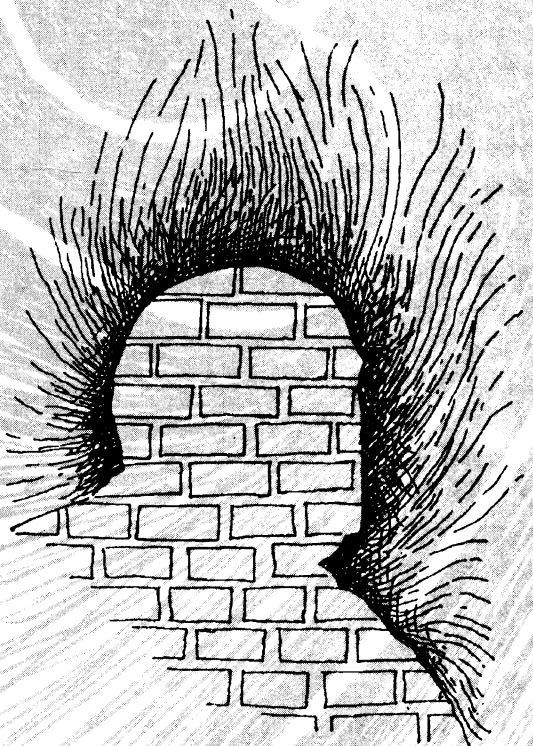

....उस यात्रा का मार्ग तो अपरिचित ही है। फिर भी श्रद्धा यात्री का सहारा है। भीतरी श्रद्धा का धीमा-धीमा आलोक उसे मार्ग से डिगने न देगा। उस राही को तो एक कदम बस काफी है। वह चले, फिर अगला सूझा ही रखा है। मुख्य बात चलना है। राह चलने से ही खुलेगी। इस प्रकार इस यात्रा में प्रत्येक कदम ही एक साध्य है। यहां साधन स्वयं साध्य का अंग है। साधन साध्य से भिन्न कहां से हो सकता है? इससे जिसे लंबा चलना है, लंबी बातों का उसके लिए अवसर नहीं है। वह तो चला चले, बस चला चले।

व्यवहार का कोई भी कर्म धर्म से बाहर नहीं है। सबमें धर्म का श्वास चाहिए। उसी दृष्टिकोण से जीवन की समस्याओं को ग्रहण करने से समुचित समाधान का लाभ होगा, अन्यथा नहीं। सबके अंतर में एक ज्योति है। उसे जगाए रखना है। फिर उस लौ में जीवन को लगाए चले चलना है। चलते जा, चलते जाना। फिर जो होगा सब ठीक होगा। राह का अंत न नाप, राही, तुझे तो चलना ही चलना है।

—जैनेन्द्र कुमार

मन-भावों की एक परीक्षण विधि

मुनि तत्वरुचि 'तरुण'

'मुद्रया सहितं समुद्रः'—समुद्र मर्यादायुक्त होता है। जो मर्यादा में रहता है वह आदर्श व विशिष्ट उदाहरण बन सकता है। कहा जाता है कि गंभीरता कैसी कि समुद्र जैसी। इसीलिए सिद्ध आत्माओं की गंभीरता को महान आचार्यों ने 'सागरवर' कहकर उपमित किया है। मर्यादा में रहने वाला ही धीर-गंभीर हो सकता है। मन-भावों की मर्यादा हमें तनाव में जाने से रोकती है। हमारी शांति और स्वास्थ्य की रक्षा में सहायक बनती है। इसके साथ-साथ मर्यादा हमारे आचार-विचार और व्यवहार को परिष्कृत करने में उपयोगी सिद्ध होती है। आइए! हम जानें मर्यादा अपने मन-भावों का कितना सीमांकन और सीमोल्लंघन करती है? प्रश्नों के जवाब क, ख, ग में से किसी एक को चुनकर दिए जा सकते हैं—

प्रश्न 1 : जब आप 'बाजार' करने निकलती/निकलते हैं तो आपके मन में बहुत-सारे अरमान होते हैं। मन की उन भावनाओं को आप...

(क) सीमित करने की कोशिश करती/करते हैं : क्या आपको यह भान रहता है कि घर की जो आय है, मन में संजोए सपने उससे कभी साकार नहीं हो सकते?

(ख) येन-केन-प्रकारेण पूरा करने की इच्छा रखती/रखते हैं, चाहे उसके लिए कितनी ही मेहनत और मजबूरियों का सामना क्यों न करना पड़े?

(ग) उचित अवसर आने पर पूरी करने की ख्वाहिश रखते हुए वर्तमान परिस्थिति के अनुकूल अपने-आप को ढालने की कोशिश करती/करते हैं?

'मर्यादा में रहने वाला ही धीर-गंभीर हो सकता है। मन-भावों की मर्यादा हमें तनाव में जाने से रोकती है। हमारी शांति और स्वास्थ्य की रक्षा में सहायक बनती है। इसके साथ-साथ मर्यादा हमारे आचार-विचार और व्यवहार को परिष्कृत करने में उपयोगी सिद्ध होती है। आइए! हम जानें मर्यादा अपने मन-भावों का कितना सीमांकन और सीमोल्लंघन करती है?'

प्रश्न 2 : जब आपको अपने किसी अनुचित कार्य अथवा व्यवहार पर उपालंभ दिया जाता है तो आपके मन में प्रतिक्रिया होना संभव है। क्या आप सोचते हैं कि...

(क) उपालंभ गलती पर मिला है और गलती मेरे द्वारा हुई, इसलिए किसी पर आवेश, आक्रोश न कर मुझे अपनी गलतियों को अशेष करना है?

(ख) गलती किससे नहीं होती, फिर मुझे ही क्यों डांटा जा रहा है? जो मुझे शिक्षा दे रहे हैं, क्या उन्होंने कभी गलती नहीं की? तो मैंने ऐसा क्या कर दिया, जो इतना सुनाया जा रहा है—आदि?

(ग) मुझसे गलती तो हुई, पर इतना सुनाने और तेज बोलने की क्या आवश्यकता थी? शांति से भी कह सकते थे। मैं कब इंकार कर रहा था/रही थी? खैर, जो हुआ अच्छा हुआ, अब आगे से ऐसी गलती फिर नहीं करूंगा/करूंगी।

प्रश्न 3 : जब आप अनुकूलता में होते हैं तब आपके मन में प्रसन्नता व

सुखानुभूति का भाव होता है, लेकिन परिस्थितियां बदलने पर आपके भावों में बदलाव आना संभव है। ऐसी स्थिति में आप विचार करते हैं कि....

(क) वे दिन पुनः लौट आएं, जब चारों ओर समृद्धि और खुशहाली का वातावरण था। हमारे पास भरपूर भोग-उपभोग के साधन थे। आज हम क्या से क्या हो गए।

(ख) वे दिन हमारे लिए दिन थे, आज वे रात में बदल गए। खैर, यह तो प्रकृति का नियम है। अपने शुभ-अशुभ का ही उसमें निमित्त है। मुझे इन काली रातों में भी अपने विवेक का दीपक जलाकर रखना है जिससे ये घड़ियां भयावह न बनें।

(ग) जो दिन थे वो अच्छे थे, फिर रात को हम बुरा क्यों मानें? वह भी हमारे सुख-शांति के लिए विश्राम की वेला होती है। मैं मानती/मानता हूं कि उतार-चढ़ाव का ही नाम जीवन है। आज जो स्थितियां हैं वो भी बदल जाएंगी।

प्रश्न 4 : यदि आपको अपने मन के विपरीत किसी ने कुछ बोल दिया तो आपके चेहरे की भाव-भंगिमा परिवर्तित होना संभव है। आपके मन में कई प्रकार के भाव उभर सकते हैं और आप बिना बोले मन में ऐसा सोचते/सोचती हैं कि....

(क) अवसर आने दो उसकी क्या और कितनी औकात है, उसका अनुभव करा दूंगा/दूंगी।

(ख) आज उसका सिक्का चलता है। इसीलिए जो आया सो बोल देता है, लेकिन सब दिन समान नहीं हुआ करते।

(ग) मेरा क्या लिया। बेमतलब उल्टा-सुल्टा बोलकर उसने अपना ही नुकसान किया। मुझे उस पर आक्रोश करके अपना संतुलन क्यों खोना चाहिए।

प्रश्न 5 : जब आप किसी पर संदेह करते हैं, तब उसके प्रति आपके मन में निषेधात्मक विचार आना स्वाभाविक है। यदि आप पर कोई शंका करे तो उसके बारे में आप यही कहेंगे/कहेंगी...

(क) कैसा शंकालु व्यक्ति है? बेमतलब मुझ पर संदेह कर रहा है, जबकि उसके बारे में मैं कभी किसी को कुछ नहीं कहता/कहती।

(ख) कैसा व्यक्ति है? बेमतलब शंका करके अपने मन में गांठ बांध रहा/रही है, और हरएक को अपना दुश्मन बना रहा/रही है। ऐसे शक्की व्यक्ति किसी का क्या भला करेंगे? मैं तो ऐसे व्यक्तियों से दोस्ती रखना ही पसंद नहीं करता/करती।

(ग) मुझ पर शंका करने वाले की आशंकाएं स्वतः निर्मूल हो जाएंगी। यदि मैं सही हूं तो मुझे डरने की क्या जरूरत है और उसे कुछ कहने की भी क्या आवश्यकता है।

प्रश्न 6 : जब आपका अनुकूल व्यक्ति आपको कोई चीज देने से अथवा किसी काम के लिए मना कर दे तो आपके मन में यही भाव आता होगा कि....

(क) कैसा दोस्त या सहयोगी है जो एक छोटी-सी चीज के लिए अथवा मामूली काम के लिए मना कर दिया।

(ख) जहां तक मेरा खयाल है, अगर उसके पास 'वह वस्तु' होती तो वह कभी इनकार नहीं करता/करती। वह किसी कार्य में व्यस्त है, अन्यथा किसी काम के लिए वह मना नहीं करता/करती।

(ग) उसे इतना तो सोचना ही चाहिए था कि मैं किसको मना कर रहा/रही हूं? कम-से-कम मुझे तो उससे ऐसी आशा नहीं थी। फिर भी उम्मीद करता/करती हूं कि यह बात देर-सवेर उसके दिमाग में आएगी और अपने व्यवहार को वह सामंजस्य के सांचे में ढालेगा/ढालेगी।

प्रश्न 7 : आपके किसी निकटतम रिश्तेदार ने अपने विशेष आयोजन में आपको आमंत्रित नहीं किया अथवा निमंत्रण देना या फोन करके व्यक्तिशः बोलना भूल गया/गई। तब आपका मन प्रतिक्रिया स्वरूप क्या यह नहीं कहेगा कि....

(क) पैसा क्या बढ़ गया, मानो अपने-आप को समझ लिया कि जो-कुछ हूं दुनिया में मैं ही हूं। क्या उसको एक फोन करने में भी संकोच हो रहा था?

(ख) उसने सलक्ष्य ऐसा किया है—मुझे नहीं लगता। हो सकता है, कहीं विस्मृति के कारण यह भूल हुई हो। कुछ भी हो मुझे अनावश्यक शंका-संदेह करके अपने मन में गलत विचार नहीं लाना है।

(ग) वह समझता/समझती है कि उसके नहीं आने से मेरा काम रुकने वाला नहीं है। पर कुछ व्यवहार भी तो होता है। मैं उसके इस व्यवहार से खिन्न हूं। लेकिन यह मानकर अपने-आप को हल्का कर लेता/लेती हूं कि यह आज के युग का प्रभाव है, किसको दोष दें। हर घर की यही कहानी है। किसे कहें और कौन सुने?

अब आप क, ख, ग में से चुनें, उत्तर के अंक नीचे दी गई तालिका में देखें और कुल अंकों की जोड़ मिलाएं।

शेष पृष्ठ 53 पर

नारी का दायित्व

साध्वी जयमाला

मानवता के इतिहास में नारी एक सशक्त नायिका के रूप में मानी जाती रही है। वस्तुतः नारी ने समाज को बहुत-कुछ दिया है। जबकि पुरुष-प्रधान समाज ने नारी का सही मूल्यांकन कभी नहीं किया। कभी वह घूंघट में जकड़ी रही तो कभी सामाजिक वर्जनाओं की शिकार होती रही। लेकिन इतिहास में ऐसे महापुरुष भी हुए हैं जिन्होंने न केवल नारी का सम्मान किया, उसे मुख्य धारा में लाकर उसकी शक्ति व सामर्थ्य को सामाजिक निर्माण में महत्त्वपूर्ण योगदान के अवसर भी प्रदान किए। ऐसे महापुरुषों में आचार्यश्री तुलसी का नाम भी उल्लेखनीय है, जिन्होंने नारी जाति की सोई शक्ति को जागृत करने का उद्‌बोधन दिया और उसकी अस्मिता की पहचान कराई। कैसे नारी अपनी छिपी शक्तियों को प्रस्फुटित कर आगे बढ़े, कैसे स्वयं की ऊर्जा का सही उपयोग करे और अपनी क्षमताओं को प्रकट करे, अपने कर्तव्य को उजागर करे—आचार्यश्री तुलसी ने इन सभी दिशाओं में नारी को भरपूर अनुकूल अवसर उपलब्ध कराए। उन्होंने समाज के उस वर्ग की नारी के लिए यह काम किया जहां शिक्षा का तो अभाव था ही, रूढ़ियों और रीति-रिवाजों की जकड़न भी काफी मजबूत थी। उस समय में समाज के ऐसे वर्ग में नारी-चेतना की बात करना यद्यपि चुनौती-भरा कार्य था, पर आचार्यश्री तुलसी जानते थे कि यदि नारी जाति को सक्रिय नहीं किया गया तो समाज का विकास अधूरा रहेगा। आज हम देख रहे हैं कि जिस समाज के लिए यह कार्य हुआ उस समाज में नारी जाति हर कार्य में अग्रणी व महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा कर रही है।

महिलाओं पर केवल अपने व्यक्तित्व को निखारने की जिम्मेदारी ही नहीं है, अपितु अपनी संतान के व्यक्तित्व-निर्माण में भी उनके द्वारा दिए गए सद्‌संस्कार नींव के पत्थर का कार्य करते हैं। इस दृष्टि से महिलाओं का जागृत होना परमावश्यक है। नारी-जागृति और एक महिला के निर्माण का अर्थ है—पूरे परिवार, समाज तथा राष्ट्र का निर्माण। लेकिन जब तक महिलाएं अपनी स्वयं की पहचान कर, संस्कार-निर्माण का दायित्व खुद अपने हाथ में नहीं लेंगी, तब तक समाज का निर्माण सही रूप में नहीं हो पाएगा। समाज में व्याप्त बुराइयों व कुरीतियों का दौर तभी समाप्त होगा जब महिलाएं जागृत हो जाएंगी।

विश्व महिला दिवस
पर विशेष
— 8 मार्च —

यह सभी जानते हैं कि शिक्षा के साथ-साथ शिष्टता, संस्कृति, सदाचार व सत्-संस्कारों का भी जागरण होना चाहिए। महिलाओं पर केवल अपने व्यक्तित्व को निखारने की जिम्मेदारी ही नहीं है, अपितु अपनी संतान के व्यक्तित्व-निर्माण में भी उनके द्वारा दिए गए सद्‌संस्कार नींव के पत्थर का कार्य करते हैं। इस दृष्टि से महिलाओं का जागृत होना परमावश्यक है। नारी-जागृति और एक महिला के निर्माण का अर्थ है—पूरे परिवार, समाज तथा राष्ट्र का निर्माण। लेकिन जब तक महिलाएं अपनी स्वयं की पहचान कर, संस्कार-निर्माण का दायित्व खुद अपने हाथ में नहीं लेंगी, तब तक समाज का निर्माण सही रूप में नहीं हो पाएगा। समाज में व्याप्त बुराइयों व कुरीतियों का दौर तभी समाप्त होगा जब महिलाएं जागृत हो जाएंगी।

विश्व की अद्‌भुत शक्ति का नाम है महिला, जिसे इस संपूर्ण सृष्टि की नियामिका या संचालिका भी कहा जा सकता है। हमारे देश भारत में तो यह प्रबल अवधारणा रही है कि नारी शक्तिपुंज है। लेकिन आज यह बात

भुलाई जा रही हैं। एक ओर भारत प्रौद्योगिकी और विज्ञान के क्षेत्र में नए-नए आविष्कारों के साथ 21वीं सदी में अपने-आप को विश्व की एक महाशक्ति के रूप में प्रस्थापित करने जा रहा है, पर दूसरी ओर दहेज-हत्याकांड, यौन-शोषण, बलात्कार जैसी क्रूर प्रवृत्तियों द्वारा नारी-उत्पीड़न का शर्मनाक दौर भी चल रहा है। घिनौनी प्रवृत्तियां भारतीय संस्कृति, सभ्यता व गरिमापूर्ण परंपराओं पर सीधा कुठाराघात हैं। इस घिनौनेपन से मुक्त होने का उपाय क्या है? आज आवश्यकता है कि नारी स्वयं के दम-खम से इस पुरुष-प्रधान समाज का मुकाबला करे और अपनी अस्मिता की रक्षा के लिए दो-दो हाथ दिखाए। उसे जागना ही नहीं, बल्कि औरों को भी जागृत करना है, जिससे वह न केवल नारी समाज को ही सक्षम व सुदृढ़ बना सके, मजबूत सृजन शक्ति का निर्माण भी कर सके—ऐसा होने पर ही वह समाज की मेरुदंड बनकर समाज के हित-साधन में अपनी क्षमताओं का नियोजन कर सकेगी।

नारी जाति का अपना गौरवपूर्ण इतिहास प्राचीन समय से ही रहा है। नारी को सरस्वती, लक्ष्मी और दुर्गा के रूप में उपमित किया गया है। सृजनशीलता, अर्थ-संपदा व शक्ति-संपन्नता की त्रिवेणी भी उसे कहा जा सकता है। लक्ष्मीस्वरूपा, शक्तिस्वरूपा और विवेकदायिनी—इन तीनों से संपन्न व्यक्ति सब-कुछ अर्जित कर सकता है। काया के साथ छाया की तरह ये तीनों बनी रहें तो आदमी को और कुछ नहीं चाहिए। तब कैसी भी पारिवारिक और सामाजिक व्यवस्थाएं क्यों न हों, नए शिखर तलाशने में नारी कामयाब हो सकती है। अपने नैसर्गिक गुणों से नारी ने घर को सदैव स्वर्ग बनाया है। नारी के ये गुण हैं—समता, ममता, सहिष्णुता, श्रमशीलता, शांति, सेवा, सदाचार, विनम्रता, सहनशीलता और स्नेहशीलता। ये गुण एक नारी के आभूषण हैं, इनसे जीवन में निखार आता है, सौंदर्य शतगुणित हो जाता है और एक सुघड़-गृहिणी की पहचान इन्हीं सद्गुणों से सहज ही हो जाती है।

आचार्यश्री तुलसी ने नारी की व्याख्या करते हुए लिखा है—सहजता जिसका जीवनव्रत हो, शील जिसका शृंगार हो, करुणा जिसकी सहचरी हो, वात्सल्य जिसकी पहचान हो वही नारी है। परिवार की मेरुदंड बनकर प्रत्येक मोर्चे पर जो अडिग डटी-खड़ी दिखाई देती हो—वह कोई अन्य नहीं, नारी ही होती है।

किंतु कैसी क्षोभनाक स्थिति है कि आज नारी अपने इन मूल गुणों को, जो जीवन के आदर्श रूप हैं, भूलती हुई नजर आ रही है। इसका मुख्य कारण है—सुविधावादी मनोवृत्ति। उपभोक्तावादी संस्कृति के चलते आदमी अधिक से अधिक भौतिक चकाचौंध में फंसता जा रहा है। इसी से पारिवारिक सुख और प्रसन्नता दिनोदिन घटते जा रहे हैं। पारिवारिक बिखराव और विघटन आज की प्रमुख समस्या है। टूटन के कगार पर खड़े परिवारों को बचाने के लिए यह आवश्यक है कि सामंजस्य के सूत्रों की अनुप्रेक्षा व संबंधों की मधुरता के उपायों की खोज की जाए।

संबंधों में कटुता पैदा करने वाला मुख्य कारण है—स्वार्थवादी मनोवृत्ति। पारिवारिक जीवन में सहचारिता स्थापित करने हेतु अहम् और मेरेपन के भावों को तिलांजलि देनी होगी। हम सब एक हैं—यह सूत्र अपनाएं और अपनी बात औरों पर जबरदस्ती थोपने, आवेशपूर्ण शब्दों का प्रयोग करने, निषेधात्मक सोच रखने तथा आलस्य, अधीरता, अकुलाहट, झुंझलाहट आदि कुछ ऐसे तत्त्व हैं जो परिवार को टूटने के कगार पर खड़ा करते हैं, परस्पर सौहार्द को मिटा देते हैं। मधुरतापूर्ण व्यवहार के लिए इन सबका परिहार नितांत अपेक्षित है। संबंधों को मजबूत बनाए रखने के लिए पारस्परिक विश्वास आवश्यक है। एक-दूसरे के प्रति विश्वास की नींव नहीं होने से पारिवारिक सुख, शांति और सामांजस्य का सपना सार्थक नहीं होता। स्वस्थ पारिवारिक जीवन के लिए सहिष्णुता और आपसी विश्वास का विकास परम अपेक्षित है। कथित आधुनिक परिवेश में पलने वाली लड़कियां, युवतियां अपना व अपने परिवार का भविष्य नहीं सोचतीं। उनमें सहनशीलता की भावना दिन-प्रतिदिन घटती जा रही है। परिवार में रहना, सबका सहना उन्हें बड़ा कठिन काम लगता है। स्वच्छंदता, स्वेच्छाचारिता सीमातीत हो रही है। इसीलिए तलाकों की भरमार नजर आती है।

'मैं पढ़ी-लिखी हूं, मैं ही सबका क्यों सहूं'—यह आज के माहौल में चिंतनीय बिंदु है। इस प्रकार के वातावरण से ही पूरे घर का माहौल बदलता है। परिवारों में तनाव बढ़ता है और जीवन अशांत बन जाता है।

जो नारी थोड़े-से धैर्य का परिचय देती है, ठंडे दिमाग से चिंतन करती है तो उलझी गुत्थी भी सुलझ जाती है। ऐसी नारी अपनी शिक्षा का सदुपयोग कर सकती है। प्रेक्षाध्यान के प्रयोगों से यह कार्य सरलता से हो सकता है। प्रेक्षाध्यान जलती अग्नि में पानी का काम कर शांति का वातावरण बनाने में सहायक हो सकता है। विघटन से पैदा होने वाली समस्या प्रेक्षाध्यान से स्वतः शांत हो जाती है।

इतिहास के उज्ज्वल पन्नों में अनेक सन्नारियों के जीवनवृत्त स्वर्णिम अक्षरों में अंकित हैं। जिन्होंने सब संकटों को झेलकर अपने परिवार, समाज और देश के लिए सब-

कुछ न्यौछावर कर डाला। वे घबराई नहीं, तलाक नहीं दिया। सुख-दुख जो-कुछ मिला—सबको समता से सहन कर एक आदर्श उपस्थित किया। शील की सुरक्षा हेतु अपने प्राणों की बाजी लगा दी, किंतु कभी झुकी नहीं। नारी परिवार व समाज की आधारशिला है। पूरे परिवार को एक सूत्र में बांधकर रखने की कला सिर्फ नारी में है। क्योंकि वह स्वयं करूणाशील, कर्तव्य की प्रतिमूर्ति एवं दायित्व-बोध जैसी विरल विशेषताओं से समृद्ध होती है। नारी के नाना-रूप हैं। वह मां, पत्नी, बेटी, बहिन है। भावी पीढ़ी का निर्माण करने, सद्संस्कार, वात्सल्य और सेवा के संस्कार देने में नारी अग्रणी रही है।

नारी अपनी भिन्न-भिन्न भूमिकाओं का तटस्थ भाव से निर्वाह करती है। मां बनकर मातृत्व को उंड़ेलती है, तो पत्नी बनकर अपने कर्तव्य का हर स्थिति में निर्वहन करती प्रतीत होती है। बहिन बनकर भाई की आन, बान और शान को सुरक्षित रखती है। और बेटी बन कर मातृ-पितृ ऋण से उऋण होने के लिए अधिक-से-अधिक सेवा करती है।

परिवार की आबरू की रक्षा और योगक्षेम की कामना करने वाली नारी ही है। घर की शालीनता, समृद्धता और गौरव को चार-चांद लगाने वाली नारी ही है। नारी को समाज का दर्पण कहें तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। उसके व्यक्तित्व और कर्तव्य की परछाईं पूरे परिवार में देखी जा सकती है।

नारी अपने स्वैच्छिक संकल्पबल से प्रगति कर सकती है। अपने आत्मबल से उसने नई करवट ली है। आज उसने राजनीतिक, शैक्षणिक, सामाजिक, धार्मिक, प्रशासनिक आदि सभी क्षेत्रों में अपना अधिकार जमाया है। इस प्रगति के साथ-साथ अपनी संस्कृति को बिना भूले, फैशनपरस्ती और भौंडे प्रदर्शन की अंधी दौड़ से दूर हटकर अपने चारित्रिक मूल्यों के उन्नयन से वह पुनः सावित्री, दुर्गा, सीता और सरस्वती का रूप धारण कर सकती है। भारतीय नारी के आदर्शों को जीवंत व साक्षात बनाने में प्रेक्षाध्यान, जीवन-विज्ञान और अणुव्रत सहायक सिद्ध हो सकते हैं। ❖

मन-भावों की एक परीक्षण.....**पृष्ठ 50 का शेष**

प्रश्न	क	ख	ग
1.	4	6	2
2.	2	6	4
3.	6	4	2
4.	6	4	2
5.	4	6	2
6.	6	2	4
7.	6	2	4

यदि आपके अंक 34 से 42 हैं तो मानना चाहिए कि अपने मन पर आपका नियंत्रण नहीं है। इसीलिए वह अपनी सीमा का उल्लंघन कर उच्छृंखलता को धारण किए हुए है। आप अपने मन को प्रशिक्षित करें और उसे 'मर्यादा' में रहना सिखाएं। तभी तनाव, दुख और अशांति आपका साथ छोड़ सकेंगे।

यदि आपके अंक 24 से 34 हैं तो यही कहा जा सकता है कि कभी तो आपका मन आपके वश में है, तो कभी वह बेलगाम हो जाता है। यूं आधे-अधूरे नियंत्रण से पूरी बात बनने वाली नहीं है। मन को थोड़ा और कसना होगा और उसे विधायक दृष्टिकोण में पूरी तरह रंगना होगा। आपका मन अपनी सीमा को समझता तो है, पर देर आयद दुरस्त आयद के बिंदु से।

यदि आपके अंक 14 से 24 हैं तो लगता है आपने अपने मन को मर्यादा का पाठ ही नहीं पढ़ाया, अपितु उसे हृदयंगम भी करवा दिया है। हर स्थिति में धैर्य और शांति के साथ चिंतन-मनन कर अपने मन को विचलित नहीं होने देना, उसे सीमा से बाहर नहीं जाने देना एक ऐसी कला है जिसका प्रशिक्षण आपने अच्छी प्रकार से प्राप्त किया हुआ लगता है। ❖

आज के प्राकृतिक और मानवीय साधनों पर अगर उचित नियंत्रण नहीं रखा गया, तो वे भयानक विनाश का कारण बन सकते हैं और अगर उनका उचित ढंग से नियंत्रण किया, तो वे पहले से कहीं अधिक बेहतर विश्व का निर्माण कर सकते हैं। भविष्य हमारे हाथ में है। उत्कंठा, भ्रम और तनाव, जो अतीत में युद्ध की ज्वाला भड़काने का कारण बनते रहे हैं, भविष्य में नहीं रहने चाहिएं। आज का हमारा चुनाव ही भविष्य में सामूहिक रूप से हमारे जीवन या विनाश का निर्माण करेगा, अगर मनुष्य की शांति की अदम्य इच्छा को बनाए रखना है, तो इतिहास को एक नई दिशा देनी होगी।

—डॉ. एस. राधाकृष्णन्

दो मुट्ठी पैसे

डॉ. मदन जैनी

बात बहुत पहले की है। राजस्थान के किसी गांव में एक किसान रहता था। वह बहुत गरीब था। उसका नाम था भोलू। भोलू था बहुत ही भोला-भाला। उसका अपना खेत नहीं था। दूसरे किसानों के खेतों में काम करके वह अपने परिवार का पेट भरता था।

भोलू के परिवार में कुल तीन ही प्राणी थे। वह खुद, उसकी पत्नी पतासी और पुत्री चतरी। भोलू की पत्नी भी सीधी-सादी महिला थी। पति जो भी कमाकर लाता, उसी में उसे संतोष था। घर की हालत ही ऐसी थी। संतोष न भी हो तो क्या करे? भोलू चाहता था कि उसके घर की हालत सुधरे, पत्नी भी यही चाहती थी और पुत्री भी। पर कहावत है कि 'मन-चींती नहिं होत है, हर-चींती तत्काल।'

विधाता को कुछ और ही मंजूर था। इंद्र भगवान रूठ गए। अकाल-पर-अकाल पड़ने लगे। चारों ओर हाहाकार मच गया। लोगों ने अपने पशुओं को तिलक लगाकर भगवान-भरोसे जंगल में छोड़ दिया। काम की खोज में गांव के लोग बाहर जाने लगे। गांव में जो बचे, उनमें कुछ धनी किसान थे, कुछ सेठ-साहूकार थे और कुछ ऐसे भी थे, जो बाहर जाकर कमा नहीं सकते थे। भोलू को काम मिलना बंद हो चुका था। वह उदास रहने लगा। बेटी चतरी से पिता की उदासी छुपी नहीं रह सकी। वह बड़ी चतुर थी। पिता के दुख से वह भी दुखी हो उठी। उसने अपनी मां से कहा, 'पिताजी को खेतों में काम नहीं मिल रहा तो क्या हुआ? हम सभी मिलकर जंगल से लकड़ियां काट लाएंगे। फिर उन्हें बाजार में बेच देंगे। बदले में जो भी मिलेगा, उससे गुजारा कर लेंगे।'

'मेरे साथ घर में आओ और दो मुट्ठी पैसे ले लो।' सौदागर ने कहा और अपने घर में चला गया। मुनीम और चतरी भी उसके पीछे-पीछे घर में दाखिल हुए। सौदागर ने फुटे पैसों की मंजूषा खोली और रेजगारी से अपनी एक मुट्ठी भरकर चतरी को देने लगा। चतरी ने झट से उस मुट्ठी को एक हाथ से कसकर पकड़ लिया और दूसरे हाथ से कमर में खोंसा हुआ हंसिया निकाल लिया। यह देखकर सौदागर के चेहरे का रंग उड़ गया। वह गुस्से से कांपता हुआ बोला, 'यह क्या कर रही हो?'

चतरी की बात उसकी मां को बहुत पसंद आई। उसने अपने पति को बेटी की राय बताई। भोलू को भी बेटी की बात ठीक लगी। उसका उदास चेहरा खिल उठा। फिर क्या था। अगले ही दिन वे तीनों जने जंगल में गए। दिन-भर खूब लकड़ियां काटी। शाम को जब वे घर लौटे, तो तीनों के सिर पर लकड़ियों के बड़े-बड़े गट्ठर थे। अगले दिन भी उन्होंने ऐसा ही किया। ऐसा करते-करते उनके घर में लकड़ियों के ढेर लग गए। एक दिन चतरी ने पिता को सलाह दी कि पड़ोसी की बैलगाड़ी लेकर इन लकड़ियों को बाजार में बेच दिया जाए।

भोलू भी यही सोच रहा था। वह अपने पड़ोसी के घर गया। उससे बैलगाड़ी मांगी। पड़ोसी ने राजी-राजी अपनी बैलगाड़ी उसे दे दी। बेटी और पत्नी की मदद से भोलू ने बैलगाड़ी पर लकड़ियां रखीं और रस्सी से अच्छी तरह बांधकर उन्हें बाजार में बेचने ले आया। अकाल में लकड़ियां कौन लेता? अंधेरा होने लगा, पर भोलू से किसी ने लकड़ियों की कीमत तक नहीं पूछी। वह थका-हारा उदास मन से लौटने ही वाला था, तभी गांव में नया बसा सौदागर अपने मुनीम के साथ उधर से निकला। भोलू ने आशा-भरी निगाहों से सौदागर की ओर देखा। सौदागर ने भोलू के चेहरे पर नजर डाली। उसे भांपते देर नहीं लगी कि वह कितना जरूरतमंद है। उसने कहा, 'लकड़ियों की गाड़ी बेच रहे हो क्या?'

'जी हां, बेचने के लिए ही लाया हूं।' भोलू ने कहा।

'कितने रुपये लोगे?'

'तीस रुपये!'

'बीस रुपये दूंगा, देनी है तो बोलो।' सौदागर बोला।

'ठीक है, बीस ही दे दो।' भोलू को लगा, कहीं डूबते को तिनके के सहारे से ही हाथ न धोना पड़े। कुछ ऐसा ही सोचकर उसने हामी भर दी।

'तो आ जाओ हमारे पीछे-पीछे!' कहकर सौदागर अपने मुनीम के साथ घर की ओर चल पड़ा। भोलू गाड़ी हांकता हुआ उनके पीछे-पीछे चलने लगा। सौदागर के घर के पास ही उसका लंबा-चौड़ा बाड़ा था। मुनीम ने बाड़े का फाटक खोल दिया।

भोलू गाड़ी को बाड़े में ले गया। उसने लकड़ियों की रस्सी के सिरे को पकड़ा। वह उसे खोलने ही वाला था कि सौदागर ने उसे रोक दिया। वह बोला, 'यह क्या कर रहे हो? मैंने लकड़ियों की गाड़ी बेचने की बात कही थी। अब गाड़ी में जो बैल हैं, लकड़ियां हैं, रस्सी है—गाड़ी सहित सभी हमारे हैं। तुम अपने बीस रुपये पकड़ो और चलते बनो।'

भोलू को दिन में ही तारे नजर आने लगे। उसकी चेतना को जैसे सांप सूंघ गया। उसने कहा, 'तब मुझे यह सौदा मंजूर नहीं है।'

'मंजूर तो तुमने पहले ही कर लिया था, अब मना करने से कोई फायदा नहीं है। इस बात के मुनीमजी गवाह भी हैं।' सौदागर ने कुटिलता से कहा। मुनीम ने भी सौदागर की हां-में-हां मिलाई।

भोलू ने एक बार तो सोचा कि ये बीस रुपये भी न लूं। लेकिन अपनी गरीबी का खयाल करके उसने वे रुपये ले लिए और घर की राह पकड़ी।

घर पहुंचकर पत्नी और बेटी को उसने सारी रामकहानी कह सुनाई। सुनकर पत्नी तो सौदागर को बुरा-भला कहने लगी, पर चतरी शांत रही। कुछ देर सोचकर चतरी ने कहा, 'चिंता करने से क्या फायदा? अभी एक गाड़ी जितनी लकड़ियां तो हमारे घर पर ही पड़ी हैं। बैलगाड़ी लाने की जुगत जरूर बिठानी होगी। बची हुई लकड़ियों की गाड़ी लेकर कल मैं बाजार में जाऊंगी।'

मां-बाप ने बेटी की बात मान ली। अगले दिन दूसरे पड़ोसी से बैलगाड़ी उधार मांगी गई। पड़ोसी ने पहले तो आनाकानी की। कहने लगा कि मेरी बैलगाड़ी भी हाथ से उतर गई तो कौन जिम्मेदारी लेगा? भोलू व चतरी ने कहा कि नुकसान की भरपाई करने की जिम्मेदारी हमारी ही है। इस जिम्मेदारी से मुंह मोड़ने वाले हम नहीं हैं। आज नहीं तो कल, भरपाई करके रहेंगे। पड़ोसी मान गया। उसने अपनी बैलगाड़ी उन्हें दे दी। इस बार भी गाड़ी पर लकड़ियां भरी गईं। रस्सी से अच्छी तरह उन्हें बांधा गया। गाड़ी बाजार में लाई गई। लेकिन इस बार गाड़ी के साथ भोलू नहीं था, चतरी थी।

कुछ लोगों ने चतरी से लकड़ियों के भाव पूछे। चतरी जानती थी कि अकाल में लकड़ियां खरीदने के बाट इनके पास कहां है! उसने आसमान छूने वाले भाव बताए। वे उसका मुंह ताकते चले गए। चतरी तो उस कपटी-छली सौदागर के इंतजार में थी। अंधेरा घिरने को था। तभी उसे अंधेरे में उजाले की किरण नजर आई। सौदागर अपने मुनीम के साथ आ रहा था। चतरी संभल गई। नजदीक आते ही सौदागर ने कहा, 'ऐ लड़की, लकड़ियों की गाड़ी बेचनी है क्या?'

'बेचनी है, तभी तो यहां खड़ी हूं, आपको लेनी है क्या?'

'लेनी है तभी भाव पूछ रहा हूं, बोलो, सारी लकड़ियों की गाड़ी के कितने रुपये लोगी?'

'दो मुट्ठी पैसे!' चतरी बोली।

'दो मुट्ठी पैसे? देखो लड़की, मैं हंसी-ठट्ठा पसंद नहीं करता। सही-सही बताओ कि कितने रुपये लोगी?' सौदागर ने गंभीरता से कहा।

'लकड़ियां मेरी हैं और भाव भी मैं ही बता रही हूं। आपको लेनी हो तो दो मुट्ठी-भर पैसे देने होंगे, नहीं तो चलते बनो।'

'तब फिर आ जाओ, हमारे पीछे-पीछे।' कहकर सौदागर अपने मुनीम के साथ चल पड़ा। चतरी भी गाड़ी हांकती हुई उनके पीछे-पीछे चलने लगी। सौदागर का बाड़ा आते ही मुनीम ने बाड़े का फाटक खोल दिया। चतरी ने गाड़ी को बाड़े में ले जाकर खड़ा कर दिया। जैसे ही वह लकड़ियों की रस्सी खोलने लगी, सौदागर ने उसे टोकते हुए कहा, 'यह क्या कर रही हो? सारी लकड़ियों की गाड़ी की बात हुई थी। मुनीमजी गवाह हैं। सौदे की बात याद करो।'

'ओह, मैं तो भूल ही गई थी। सारी लकड़ियों की गाड़ी के बदले ही तो दो मुट्ठी-भर पैसों की बात हुई थी, लाओ मेरे दो मुट्ठी पैसे?' चतरी ने कहा।

'मेरे साथ घर में आओ और दो मुट्ठी पैसे ले लो।' सौदागर ने कहा और अपने घर में चला गया। मुनीम और चतरी भी उसके पीछे-पीछे घर में दाखिल हुए। सौदागर ने छुट्टे पैसों की मंजूषा खोली और रेजगारी से अपनी एक मुट्ठी भरकर चतरी को देने लगा। चतरी ने झट से उस मुट्ठी को एक हाथ से कसकर पकड़ लिया और दूसरे हाथ से कमर में खोंसा हुआ हंसिया निकाल लिया। यह देखकर सौदागर के चेहरे का रंग उड़ गया। वह गुस्से से कांपता हुआ बोला, 'यह क्या कर रही हो?'

'एक मुट्ठी पैसे ले रही हूं। भरी हुई मुट्ठी के लिए कलाई के पास से हाथ काटना पड़ेगा न। अब दूसरी मुट्ठी भी पैसों से भर लो, मुझे तो पैसों से भरी हुई दो मुट्ठियां चाहिए। यही सौदा तय हुआ था, मुनीमजी भी गवाह हैं।' चतरी ने गंभीरतापूर्वक कहा।

अब तो सौदागर की हालत देखने लायक थी। वह बौखला गया। उसने साफ मना करते हुए कहा, 'मैं तो अपनी कलाइयां कटने नहीं दूंगा, तुम्हें जो करना हो, कर लो।'

चतरी कहां हार मानने वाली थी। उसने अगले ही दिन पंचायत में फरियाद कर दी। पंचायत जुड़ी। सौदागर और मुनीम को पंचायत में बुलाया गया। सौदागर से छले गए और लोग भी पंचायत में पहुंचे। पंचों को सौदागर के छल-कपट की जानकारी तो पहले से ही थी, पर इससे पहले पंचायत का दरवाजा किसी ने नहीं खटखटाया था।

सारी बातें सुनकर पंचायत ने अपने फैसले में कहा कि चतरी को पैसों से भरी हुई सौदागर की दोनों मुट्ठियां लेने का हक है। लेकिन मानवता के नाते चतरी सौदागर के सामने इसके बदले कोई और शर्त रख दे और वह सौदागर को मंजूर हो, तो पंचायत को भी वह स्वीकार होगी। पंचायत के कहने पर चतरी ने कहा, 'यदि सौदागर मेरी दो बातें मान लें, तो मैं दो मुट्ठी पैसे नहीं लेने पर विचार कर सकती हूं।' सौदागर बोला, 'जल्दी बताओ, कौन-सी दो बातें?'

'पहली तो यह है कि इससे पहले जिन-जिन लोगों के साथ ऐसा छल-कपट करके अन्यायपूर्वक संग्रह किया है वह सब उनके मालिकों को सौंपना होगा। दूसरी यह कि इस अकाल के समय साल-भर हमारे गांव के सब परिवारों में जितना भी राशन लगेगा, उसकी व्यवस्था की जिम्मेदारी लेनी होगी। यदि सौदागर को ये दोनों बातें मंजूर हों, तो मैं पंचायत के फैसले को सुलझा हुआ मान लूंगी।'

मरता क्या न करता? सौदागर ने राहत की सांस ली। उसने भरी पंचायत में ऐसा ही करने की हां भरी। सौदागर सोच रहा था कि चलो, जान बची लाखों पाए।

चतरी की चतुराई पर सभी खुश थे। चतरी जब घर पहुंची, तो उसके साथ दोनों पड़ोसियों की बैलगाड़ियां थीं। गांव के कुछ और लोगों को भी अपनी-अपनी वस्तुएं मिल जाने की खुशी थी। सभी के मुंह पर चतरी की चतुराई की ही चर्चा थी। ❖

(राजस्थानी लोककथा पर आधारित)

With best compliments from :

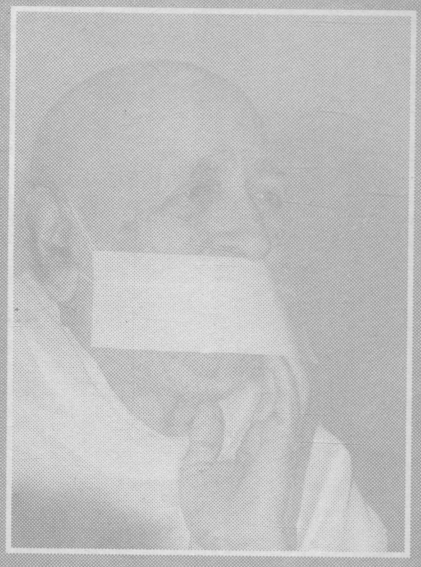

AMIT ®
A CHOPRA PRODUCT
Mfg. Art Silk Sarees & Dress Material

AMIT - SYNTHETICS

Shop : W-3207, Surat Textile Market
Office : 402, Anand Market, Ring Road
SURAT 395002
Phone : 622076, 625680, 622027 Fax : 0261-636651

Pemchand Chopra Charitable Trust

W-3207, Surat Textile Market
Ring Road, SURAT

●

Jhamkudevi Chopra Charitable Trust

11-A,B, Sai Ashish Society
Udhana Magdalla Road, SURAT

जैन भारती, मार्च, 2003 ■ भारत सरकार पं. सं. : 2643/57 ■ डाक पं. सं. : आर जे/डब्ल्यू आर /11/48/03-05

We owe it to you Customers !

It is easy to be No. 1, but difficult to remain there. But, we have been doing it for the past 5 years with our dedicated services and thanks to the invaluable support & trust in us by our valued customers. With promptness in-built, we have been serving the Indian Industries tirelessly against their requirements of **Bearings, Grease, Seals, Blocks, Sleeves & accessories** and **a variety of Maintenance Products** and **Condition Monitoring systems of SKF.** The New Millennium is on; an era that will bring forth a fresh batch of discoveries, newer wonders in technology, a greater fillip to standards of life as a whole. Rest assured, Premier (India) Bearings Limited will remain very much a participant to this absorbing, all-engaging process and will be there with you to meet your requirements.

Bearing is not our only business.

Premier (India) Bearings Limited

(India's No. 1 SKF Industrial Distributors)

25 Strand Road, 4th Floor, Kolkata 700001, Ph-2220-1926 / 0640, Fax - 22485745, Email-pibl@vsnl.com

Branches at - Mumbai, Chennai, Bangalore, New Delhi, Chandigarh & Haldia

भँवरलाल सिंघी, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता-1 के लिए जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर, बीकानेर (राज.) से प्रकाशित एवं सांखला प्रिण्टर्स, बीकानेर द्वारा मुद्रित।